राजेन्द्र-स्मृति ग्रन्थ-माला—५

जीवन जौहरी

अर्थात्

श्री जमनालालजी बजाज

लेखक
रिषभदास रांका

सम्पादक
जमनालाल जैन, साहित्य-रत्न

●

प्रमुख वितरक
चम्पालाल बम्ब, एम० कॉम
रामनगर, वर्धा

प्रकाशक :
मूलचन्द बड़जाते
सहायक मंत्री,
भारत जैन महामण्डल, वर्धा.

दिसम्बर १९५० प्रथम संस्करण : ५०००

मूल्य : एक रुपया चार आना
सजिल्द : एक रुपया बारह आना

मुद्रक :
जमनालाल जैन,
व्यवस्थापक
श्रीकृष्ण प्रिंटिङ्ग वर्क्स, वर्धा.

तपोधन श्रीकृष्णदासजी जाजू

समर्पण

पूज्य श्रीकृष्णदासजी जाजू को, जिनसे
मुझे व्यवहार में परमार्थ और
परमार्थ में व्यवहारकी
शिक्षा मिली —

रिषभदास

अनुक्रमणिका

दो शब्द

जमनालालजी के जीवन के अनेक पहलू थे। उनमें व्यापार व्यवहार भी एक महत्त्व का पहलू रहा। सत्य और अहिंसा के वे अनन्य उपासक थे। व्यापार में सत्य कैसे टिकेगा यह आजकल एक बड़ी समस्या हो गई है। वास्तव में व्यापार का टिकाव ही सत्य पर है। ईमानदारी, सच्चाई, वचन-पालन, समभाव, दयायुक्त-न्याय-बुद्धि, साथियों और नौकरों से कुटुंबवत् व्यवहार करना, सबके सुख-दुख में हिस्सा लेना, दक्षता, कुशलता, गणित-बुद्धि, दूरदृष्टि, समाज-हित बुद्धि सारासार विवेक, आदि गुणों के बगैर वैश्य-धर्म की कल्पना ही नहीं हो सकती। लेकिन इन दिनों जब कि लक्ष्मी को पैसे ने स्थान-भ्रष्ट कर दिया है, असत्य ही चातुर्य गिना जाता है। कठोरता कुशलता मानी जाती है, सत्य का व्यापार से नाता टूट गया है। ऐसी स्थिति में जमनालालजी 'जैसे हर चीज़ को सत्य के नाप से तोलने वाले किस तरह व्यापार में सच्चाई रखने की निरंतर कोशिश करते थे यह जानना बहुत लाभदाई है। रिषभदासजी ने इस पुस्तक में अपने निजी अनुभव से इस विषय पर प्रकाश डाला है। मुझे उम्मीद है कि उससे चंद लोगों को तो भी व्यवहार-शुद्धि की प्रेरणा मिलेगी।

जमनालालजी से मेरा बहुत निकट संबंध था। वह इतना निकट था कि उसके वर्णन के लिये मेरे पास शब्द नहीं हैं। यह दो शब्द लिखते समय भी उनके सत्यनिष्ठ जीवन का सारा चित्र मेरी आँख के सामने खड़ा हुआ है जिसका कि मैं त्रीस साल संतत साक्षी रहा। हम जैसे उनके कुटुंबी-जनों को परमेश्वर वैसे ही सत्य-निष्ठा दे इतनी ही मेरी प्रार्थना है।

परंधाम, पवनार
५-१२-५०

—विनोबा

अपनी ओरसे

११ फरवरी १९४२ को जमनालालजी बजाजने शरीर छोड़ा। आज इस घटना को ९ वर्ष हो रहे हैं। इस लम्बे अरसे में जमनालालजी के व्यक्तित्व पर पूरा प्रकाश डालने वाली कोई रचना प्रकाशित नहीं हो सकी। दिन बीतते गए और याद ठण्डी पड़ती गई। पर भाई चिरंजीलालजी बड़जाते तथा श्री पूनमचंदजी बांठिया को चैन कहां। बरसों उन्होंने उनके सान्निध्य में कार्य किया है, अपने व्यक्तित्व का निर्माण किया है और उन्हें परखा है। जमनालालजी राष्ट्रीय व्यक्तित्व के सफल पुरुष थे। उनपर एक पुस्तक लिखी ही जानी चाहिए, यह उन दोनों की चिंता स्थायी रही।

गतवर्ष मैंने संसार के कुछ महापुरुषों की छोटी-छोटी कहानियां 'प्यारे राजा बेटा' के नामपर प्रकाशित कीं। वे जनता द्वारा अपनाई गईं। इन कहानियों पर बात करते हुए पूज्य विनोबाजीने कहा कि यह तो ठीक ही है, पर यदि उन लोगों के सम्बंध में लिखो कि जिनके सम्पर्क में तुम आए हो तो वह चीज और भी उपयोगी होगी।' उनकी सूचना मुझे महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुई और उसीसे मुझे प्रेरणा मिली कि जमनालालजी पर भी एक पुस्तक लिखी जाय तो ठीक रहेगा। जमनालालजी व्यापारी थे, देशभक्त थे, समाज सुधारक थे, राजनीतिक थे—सभी कुछ थे और सबमें उनकी सूझ-बूझ प्रामाणिक, साधयिक और व्यावहारिक होती थी।

एक दिन भाई ईश्वरलाल ने मुझसे पूछा कि "अब मैं बी० काम हो गया हूँ और आगे क्या करना चाहिए, इस बारेमें अपने अनुभव बताइए।"

मैं विचार में पड़ गया। यह मेरे भाई का ही प्रश्न नहीं था, कालेज और स्कूल से निकलनेवाले हर तरुण के सामने जीवन का, जीवन

के मार्ग का प्रश्न रहता है और बहुतों को ठीक दिशा न मिलने से उनका जीवन निराश या संकट-मय हो जाता है।

मैं पढ़ा-लिखा तो नहीं हूँ, पर जमनालालजी की छत्रछाया में वर्षों तक सीखने को तो मिला ही है। मैंने भाई से कहा "अगर तुम जमनालालजी के आदर्श को समझ लो, उनकी कार्यपद्धति को जान लो तो तुम्हें अपने कार्य के चुनने में और उसमें सफल होने में काफी सहायता मिल सकेगी।" और उसीका परिणाम यह पुस्तक है।

यह कोई जमनालालजी का जीवन-चरित्र नहीं है, न उनकी जीवन-घटनाओं का संग्रह ही। इसमें तो उनके कुछ विशेष गुणों की चर्चा तत्त्व रूपमें की गई है और लिखते समय ध्यान में रखा गया है कि भाषा सरल हो, विषय व्यावहारिक हो और जमनालालजी के प्रति तनिकभी अन्याय या अतिशयोक्ति न होने पाए। मैं इस उद्देश्य में कहाँ तक सफल हुआ हूँ, पाठक निर्णय करें।

पुस्तक लिखने की एक प्रेरणा तो इस प्रकार भाईने दी, दूसरे भाई चिरंजीलालजी और पूनमचंदजी बांठिया का आग्रह भी रहा। उनसे भी मुझे जमनालालजी की अनेक घटनाएँ प्राप्त हो सकी हैं। इनके अतिरिक्त पूज्य बापू, विनोबाजी, हरिभाऊजी उपाध्याय, घनश्यामदासजी बिड़ला, पं० रामनरेशजी त्रिपाठी, स्व० भवानीदयालजी संन्यासी आदि की पुस्तकों तथा अनेक लेखों से भी मुझे काफी सामग्री प्राप्त हुई है। मैं इन सबका हृदय से आभारी हूँ।

काका सा० कालेलकरने कहीं उनके लिए वैश्यर्षि शब्द का उपयोग किया है और इसीलिए पुस्तक का नाम पहले 'वैश्यर्षि जमनालाल बजाज' रखने की प्रेरणा हुई जिसे श्री० श्रीमन्नारायणजी अग्रवालने भी पसंद किया था पर यह केवल जमनालालजी का जीवन-चरित्र तो लिखा नहीं जा रहा

था। अतः सोचते सोचते 'जीवन जौहरी' नाम हमारे सामने आया और वही सबको ठीक जँचा इस दूसरे नाम को सुझाने के लिए मैं जैनजगत के सुपरिचित कवि श्री आसारामजी वर्मा का आभारी हूँ।

पुस्तक का लेखन आरंभ हुआ अप्रैल में और वह पूरी हुई नवम्बर में।

मुझे यह पुस्तक प्रकाशित करते हुए संतोष का अनुभव हो रहा है; क्योंकि उनके निकट रहकर मैं जो कुछ सीख सका था और जिसे मैं पचा सका था, वह दूसरों के लिए भी उपयोगी हो, इसी दृष्टि से यह कार्य शुरू किया था और वह पूरा हुआ। मैं इसी रूपमें स्व० जमनालालजी को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर सका हूँ।

'प्यारे राजा बेटा' की तरह ही तरुण साथियों के लिए यह पुस्तक भी उपयोगी हुई तो मैं अपने श्रम को सफल समझूंगा।

पूज्य विनोबाजीने समय निकालकर इसके लिए 'दो शब्द' लिखने की कृपा की, इसके लिए मेरे अन्तःकरण में कृतज्ञता के भाव होते हुए भी शब्दों में उसे व्यक्त करना उचित प्रतीत नहीं होता।

वर्धा
८ दिसम्बर १९५०

—रिषभदास

सेठ जमनालालजी बजाज

जीवन-जौहरी

: १ :

व्यापार में सत्य-निष्ठा

प्रिय ईश्वर,

तुम कॉलेजकी पढ़ाई पूरी कर व्यावसायिक क्षेत्रमें प्रवेश कर रहे हो। तुम्हारी यह अपेक्षा स्वाभाविक है कि मैं तुम्हें अपने जीवनके अनुभव सुनाऊँ। किसी भी हालतमें किताबी शिक्षासे अनुभव की शिक्षा अधिक व्यवहारपूर्ण और उपयोगी होती है। और फिर आज के शिक्षालयों में तो जीवन-निर्माण की शिक्षा का प्रायः अभाव ही पाया जाता है। तुमने वाणिज्य महाविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की है और वहाँ पर व्यापारिक और आर्थिक प्रणालियों और सिद्धांतों का ज्ञान तुम्हें मिला है; लेकिन व्यवहार में इन सब बातों का पूरा पूरा उपयोग होगा ही, यह नहीं कहा जा सकता। कईबार तो आदमी ऐसे क्षेत्रों में चला जाता है कि उसे अनिवार्य रूप से बहुत कुछ भूल जाना पड़ता है। मैं यह नहीं कहता कि जीवन में किताबी शिक्षा का महत्व नहीं है; जीवन विकास और निर्माण में वह बहुत कुछ सहायक बनती है। किन्तु पग-पग पर जिन हजारों प्रकार के मनुष्यों से सम्पर्क और संबंध आता है उनकी रुचि, प्रवृत्ति,

संस्कार, स्थिति और योग्यता आदि के संबंध में निरंतर सावधान रहना आवश्यक है। एक दूसरे के अनुकूल और प्रतिकूल बनना पड़ता है। इस समय व्यावहारिक बुद्धि और बड़ों के अनुभव ही उसके मार्गदर्शक होते हैं। तुम भी शायद यह सोचोगे कि इतने वर्षों तक जो अनेक विषयों का अध्ययन सैकड़ों पुस्तकों द्वारा करना पड़ा है उनके भीतर अपने से संबंधित किसी व्यक्ति का परिचय और उसके जीवन-अनुभव प्राप्त नहीं होते। तुम जैसे हजारों शिक्षित तरुणों के सामने जीवन का प्रश्न उपस्थित है। और वह प्रश्न अनुभव की पाठशाला में ही सुलझ सकता है।

हमारे यहाँ इस विषय पर प्रायः लिखा ही नहीं गया। यों तो अब आत्म-कथाएँ लिखने का सिलसिला चल पड़ा है और देश के अच्छे अच्छे नेताओंने आत्मकथाएँ लिखी हैं और उनसे हमें बहुत कुछ सीखने को मिलता है। लेकिन यहाँ मैं व्यावसायिक क्षेत्र की ही बात कर रहा हूँ। इस क्षेत्र में सफलता प्राप्त करनेवाले भी कई पुरुष हो गए है, लेकिन ये लोग विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे। जो थोड़े-बहुत थे वे अपने व्यवसाय में इतने व्यस्त रहते थे कि उनका ध्यान इस ओर नहीं जा सका। जो हो, आज हमारे सामने व्यावसायिक आत्मकथा या अनुभव नहीं हैं जिनसे जीवन को सफल बनाने के लिए प्रेरणा और प्रामाणिकता प्राप्त की जा सके।

यह न समझो कि मैं किसी बहाने उपदेश देना चाहता हूँ। उपदेश को मैं उचित नहीं समझता। उसकी आवश्यकता भी नहीं है। हर व्यक्ति अपनी भलाई-बुराई समझता है और बनती कोशिश वह

ऐसा ही काम करना चाहता है जिसमें किसी तरह की हानि न हो। यह जरूर है कि नैतिकता के कुछ सामान्य गुण ऐसे होते हैं जिनका हरएक में रहना आवश्यक है। क्योंकि उनके बिना समाज का जीवन्-चक्र चल नहीं सकता। मैं तुम्हें जो कुछ लिखने जा रहा हूँ वह केवल इसीलिए है कि ऐसे कुछ अनुभव तुम्हारी व्यावसायिक जीवन-यात्रा में सहायक हो सकेंगे। यह अनुभव 'किधर से चलो' की अपेक्षा 'कैसे चलो' का संकेत करेंगे। ये अनुभव स्व० जमनालालजी बजाज के जीवन-व्यवहार के हैं। वे केवल देश-भक्त और धनिक ही नहीं, बल्कि एक सफल और आदर्श व्यापारी भी थे। मुझे उनके निकट सम्पर्क में वर्षों तक रहने और सीखने का मौका मिला है। यों तो उनके विषय में काफी लिखा जा सकता है और समय समय पर लिखा भी गया है। जीवन की घटनाओं और तिथियों की अपेक्षा जीवन के दृष्टिकोण और आदर्श को समझना अधिक महत्त्व रखता है। मैं उनके कुछ विशिष्ट गुणों का वर्णन ही यहाँ करना चाहता हूँ, आशा है तुम इन्हें ध्यान पूर्वक पढ़कर अपना मार्ग चुनने में सफल हो सकोगे।

सबसे पहले मैं उनकी सत्यनिष्ठा के संबंध में प्रकाश डालना चाहता हूँ। यह गुण वस्तुतः जीवन की सफलता का आधार है।

वे व्यापारी थे। पता नहीं व्यापारियों में यह मान्यता कब से चल पड़ी है कि व्यापार सचाई से नहीं चल सकता। व्यापार और व्यापारी शब्द मानों असत्य के पर्यायवाची बन गए हैं। बड़े बड़े भक्त और धर्मनिष्ठ लोग भी यह कहते हुए पाए जाते हैं कि

व्यापार से अलग धार्मिक जीवन में ही सत्य आदि गुणों का पालन सम्भव है। व्यापार में सचाई का खयाल रखने से भूखों मरने का भी मौका आ सकता है। कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो व्यवहार में सचाई के महत्त्व को स्वीकार तो करते हैं, लेकिन उनके चारों ओर कुछ ऐसी परिस्थिति और वातावरण रहता है कि वे चाहकर भी विचारों को कार्यान्वित नहीं कर पाते। उनकी निष्ठा या श्रद्धा दृढ़ नहीं होती। लेकिन जमनालालजी बजाज एक ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने व्यापार में सचाई को अपनाया और व्यापार तथा जीवन में सफलता प्राप्त की। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि सचाई से व्यापार अच्छा होता है और धन भी कमाया जा सकता है।

मैं २५ साल तक उनके निकट सम्पर्कमें रहा। इस बीच अत्यन्त निकटता और सूक्ष्मतासे उन्हें देखने के प्रसंग आये। उनके निधन के पश्चात् भी, उनके बहुत पहले के निकट परिचितों से जानकारी प्राप्त की; लेकिन मुझे कोई प्रसंग नहीं दिखाई दिया जिसमें उनका किंचित् भी असत्य व्यवहार प्रकट हुआ हो। वे केवल व्यापारी ही नहीं थे, देश-भक्त और समाज-सेवक भी थे। मेरा तो विश्वास है कि सचाई से कमाये जानेवाले धन का ही सदुपयोग होता है। बेईमानी से कमाये हुये धन से बुद्धि बिगड़ जाती है—मन शुद्ध नहीं रहता और न उसका सदुपयोग होता है। उसका परिणाम बुरा भी निकलता है। जमनालालजी के कार्य सचाई के कारण ही सफल हुए। और वे हमारे लिए आदर्श बन गये।

उनका मुख्य व्यापार रूई का था। बम्बई में उनकी दूकान थी। रूई खरीदकर गाँठें बाँधी जातीं और उन्हें बेचा जाता। व्यापार में लोभ का बहुत बड़ा हाथ होता है। दूसरे भी कई व्यापारी यह धंधा करते थे। उन व्यापारियोंने अधिक कमाई की लालच में रूई में पानी देकर गाँठें बंधवानी शुरू की। इससे उन्हें दो लाभ दिखाई दिए : एक तो कुछ वजन बढ़ जाता था और पानी मारी हुई ताजी रूई दूसरी रूई से लम्बे तारवाली भी दीख पड़ती थी ताकि वह ऊँचे दामोंपर बिक सके। किन्तु इस तरह पानी दिया हुआ माल थोड़े समय पश्चात् अपनी पहली स्थिति में ही नहीं आ जाता, अति पानी के कारण कुछ खराब भी हो जाता। जब माल खरीदनेवाले विदेशी व्यापारियों को इस चालाकी का ज्ञान हुआ तब वे पानी से बढ़नेवाले वजन और उससे खराब होनेवाली क्वालिटी का ध्यान रख कम कीमत में माल खरीदने लगे। परिणाम यह हुआ कि जो व्यापारी पानी नहीं मारते थे उनका भी माल कम कीमत में बिकने लगा। इस घाटे को बर्दाश्त न करने के कारण प्रायः सभी व्यापारी पानी मारकर माल बँधवाने लगे। और इस लोभ और बेईमानी का फल बेचारे किसानों को भुगतना पड़ा। किसानों से कपास कम दामों में खरीदी जाने लगी। पानी नहीं मारनेवाले व्यापारी प्रतिस्पर्धा में टिक नहीं सके। जमनालालजी बजाज की फर्म पानी नहीं मारनेवालों में से एक थी।

स्थिति विषम थी। मुनीमों को चिन्ता थी कि सब के मुकाबले में हमारी सचाई कहाँ तक टिकेगी। अन्त में जमनालालजी

के सामने उन्होंने अपनी कठिनाई व्यक्त की और उन्हें समझाया कि बिना पानी मारे हमारा काम नहीं चल सकेगा। स्पष्ट है कि मुनीमों की दृष्टि कमाई पर थी—सचाई की गहराई तक नहीं पहुँची थी। लेकिन जमनालालजी निश्चिन्त थे। उन्होंने साफ कह दिया कि काम नहीं चलेगा तो न चले, किन्तु व्यवहार में सचाई हमारा पहला धर्म होगा। और यदि पानी मारकर ही गाँठें बांधनी हैं तो उनपर 'W. I. C.' मार्क लगाया जाय और बिना पानी की गाँठों पर 'B. J.'। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी कहा कि चारों तरफ परचे बंटवाकर जाहिर कर दिया जाय कि 'W. I. C.' का अर्थ पानी मारी हुई गांठें हैं और 'B. J.' वाली गाँठें बिना पानी की। 'बच्छराज जमनालाल' फर्म का संक्षिप्त रूप 'B. J.' रखा गया था। परचे बाँट दिए गए। सेठजी के दृढ़ निश्चय के आगे मुनीमों की एक न चली। और उनकी आज्ञानुसार ही काम किया गया।

यह बात हवाकी तरह जनता में फैल गई। जमनालालजी के मित्र और हितैषियोंने लोक-व्यवहार को देखकर बहुत समझाया कि इस तरह आपको बहुत हानि उठानी होगी। झूठ के बाजार में आपकी सचाई ढँक जायगी—उसपर कोई विश्वास नहीं करेगा। लेकिन जमनालालजी पर इन बातों का और प्रलोभनों का कोई असर नहीं हुआ। विदेशी व्यापारियों की नजरों से यह बात छिपी न रह सकी, और वे बिना पानी का माल ऊँचे दामों में खरीदने लगे। इस तरह दूसरों की अपेक्षा इनका माल अधिक बिकने लगा और आमदनी भी बढ़ने लगी। इस साख को बनाए

रखने के लिए जमनालालजी ने अन्त तक प्रयत्न किया। इससे तुम जान सकते हो कि सचाई के फल सदा मधुर किस तरह होते हैं, वे देरी से भले ही प्राप्त हों।

जहाँ खरीदी होती वहाँ वे इस बात का बराबर ध्यान रखते थे कि हलका माल ऊँचे माल में न मिलाया जा सके। दो-एक आदमी इसी काम के लिए नियुक्त थे कि कपास की ढेरियों में भूल से भी पीले रंग की कपास मिल गई हो तो छाँटकर अलग कर दें। किसानों से खरीदी में तनिक भी कपास अधिक नहीं ली जाती थी। लोगों को यह तो विश्वास हो ही गया था कि इनकी फर्म से जैसा कहा जायगा वैसा ही माल मिलेगा। इसलिए उनका माल ऊँचे दामों में बिकने लगा। सत्य व्यवहार में पहले पहले हानि और कठिनाई महसूस होने लगती है और उससे आदमी का चित्त डावाँडोल भी हो उठता है। किन्तु यह अवसर एक तरह से कसौटी और तपस्या का होता है। जो इसमें खरा उतर जाता है उसे आगे चलकर बहुत लाभ होता है और सबसे बड़ी कमाई तो उसकी विश्वासपात्रता होती है। और जमनालालजी इसमें सफल हुए।

उनकी फर्म में पहले-पहल अपने माल के अतिरिक्त दूसरे व्यापारियों का माल भी आड़त में बिकने आता था। खरीददारों को सौदा पक्का होने के पहले गाँठ फोड़कर नमूना बताना पड़ता था। परिपाटी यह थी कि यह नमूने की रूई उसकी मानी जाती थी जिसकी आड़त में लेवा-बेची होती थी। यह कोई छोटी-सी बात नहीं थी। आड़तिया को इसमें हजारों रुपये की कमाई होती थी।

एक बार उनका ध्यान इस ओर गया और अपने मुनीमों से कह दिया कि प्रत्येक व्यापारी की नमूने की रूई अलग रखी जावे और बिकने पर उसके खाते में जमा कर ली जाय। यह बात उन्होंने कह तो दी, किन्तु बेचारे मुनीम चिन्ता में पड़ गये। रोज सैकड़ों गाँठें फूटती और पचासों व्यापारियों के साथ व्यापार चलता। हर गाँठ में से दस से लेकर बीस सेर तक रूई निकला करती। जगह की अड़चन थी। मुनीम ने जब अपनी स्थान आदि की कठिनाइयाँ सामने रखी तो जमनालालजी ने कोई दूसरा उपयुक्त उपाय बताने के लिए कहा। वे किसी भी तरह यही चाहते थे कि यह रूई जिसकी है उसकी कीमत उसी को मिलनी चाहिए। आखिर यह तय हुआ कि नमूने की रूई की बिक्री से प्राप्त होनेवाली रकम गाँठों के अनुपात में व्यापारियों में बाँट दी जाय। ऐसा करने से उनकी फर्म को प्रतिवर्ष कई हजार की 'ऊपर की कमाई' से वंचित होना पड़ा। लेकिन वे प्रामाणिकता और सत्य-व्यवहार के आगे कमाई, को तुच्छ समझते थे। इससे छोटी-छोटी बातों में भी वे सत्याचरण पर कितना जोर देते थे इसका पता चलता है।

'जैसे को तैसा' अथवा 'ईंट का जवाब पत्थर से' के सिद्धान्त को माननेवाले कहते हैं कि शत्रु के साथ असत्य व्यवहार करना कोई पाप नहीं है। लेकिन जमनालालजी ऐसे व्यवहार को भी धोखा ही समझते थे। शत्रु के साथ असत्य व्यवहार करना या उसे धोखा देना भी पाप ही है। कई लोग अपनी कमजोरी छिपाने के लिए भले ही उसे कुछ भी नाम दें, लेकिन सत्य का उपासक तो

हमेशा सत्य को सत्य और असत्य को असत्य ही मानेगा। जमना-लालजी ने इसे समझ लिया। इस संबंध में उनके जीवन की एक घटना उनके व्यक्तित्व को समझने में सहायक हो सकती है।

जब देश में स्वराज्य-प्राप्ति का आन्दोलन छिड़ा और अंग्रेज सरकार से लड़ाई छिड़ गई तब स्वाभाविक ही था कि विदेशी सरकार भारत की शत्रु बन जाती। सरकार की ओर से जब आन्दोलनकारियों को कष्ट दिया जाने लगा तब कई लोगोंने सरकार को नुकसान पहुँचाना, धोखा देना, टॅक्स कम देना या न देना आदि कामों को देश-भक्ति मान लिया था और कई लोग इस तरह सरकार को धोखा देने में पाप नहीं मानते थे। झंडा-सत्याग्रह के समय की बात है। झंडा-सत्याग्रह में शामिल होने के लिए बम्बई से रवाना होते समय जमनालालजी ने अपने कर्मचारियों से कह दिया कि इन्कम-टॅक्स चुकाने में वे झूठे बही-खाते बताकर या रिश्वत देकर अनुचित लाभ न उठावें। जो कुछ हो, सही सही बताकर पूरा पूरा टॅक्स चुकावें। कांग्रेस की आज्ञानुसार दंड नहीं देने में उन्होंने हजारों का नुकसान उठाया, लेकिन असत्य-व्यवहार से व्यक्तिगत स्वार्थ साधने का कभी प्रयत्न नहीं किया।

लेकिन मुनीम तो मुनीम ही थे। उस वर्ष बहुत अधिक मुनाफा हुआ था। उन्होंने सोचा कि यदि बहीखाते बताए गए तो टॅक्स बहुत अधिक चुकाना पड़ेगा और फिर सदा के लिए यह बला पीछे लग जायगी। इसलिए उन्होंने बहीखाते बताए ही नहीं। हमेशा तो केवल ५-७ हजार रुपया ही टॅक्स का लगता था लेकिन

उस वर्ष ऑफिसरने ८५ हजार रु० टॅक्स ठोक दिया। इससे मुनीम और चिन्ता में पड़ गए। उन्होंने अपील के लिए तारीख बढ़वा ली। इतना अधिक टॅक्स मध्यप्रान्त की उस रिपोर्ट से लगाया गया था कि वर्धा में ये बहुत बड़े आदमी हैं और इन्होंने काफी रुपया कमाया है। मुनीमजी ऑफिसर से मिले, उसे १० हजार रु० रिश्वत दी गई और मध्यप्रान्त सरकार की रिपोर्ट गायब कर दी गई। अब टॅक्स ८५ हजार की जगह ८ हजार रह गया। मुनीमजी अपनी सफलतापर खुश थे।

जेल से छूटकर आने पर सेठजी ने इन्कम-टॅक्स के बारे में पूछ-ताछ की। पहले तो मुनीमजी के मन में विचारों के ताने-बाने चलते रहे या इस उलझन में रहे कि क्या कहा जाय। लेकिन जमनालालजी के प्रभाव के आगे झूठ बोलने की उनकी हिम्मत नहीं हुई। जो कुछ हुआ था, सच सच कह सुनाया। सेठजी को इससे बहुत दुःख हुआ।

वे उसी दिन साबरमती गए। सारी घटना बापू को कह सुनाई और अपनी ओर से कहा कि यह काम मेरी अनुपस्थिति में हुआ है और सूचना करने के पश्चात् भी मुनीम ने यह पाप कर ही डाला है, इसका प्रायश्चित मुझे लेना ही चाहिये। आप जैसा कहेंगे, मैं करने को तैयार हूँ।

बापूने सुनकर कहा : "इसका यही उपाय है कि मुनीम ने जो रुपया बचाया है उसे जनता के काम में लगा दो। इसका परिणाम यह होगा कि मुनीम यह समझ जावेंगे कि इस तरह से बचाये

हुए पैसे को तुम पास में रखना नहीं चाहते, और वे आगे से बचने-बचाने की झंझट में नहीं पड़ेंगे।"

यह घटना मनपर स्थायी और मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालती है। रोष करके जमनालालजी मुनीम के हृदय का परिवर्तन नहीं कर सकते थे। सौजन्य, विवेक और संयम से ही अपनी बात दूसरों के गले उतारी जा सकती है। बुरे को बुरा कहने से बुराई नष्ट नहीं होती, बल्कि एक ऐसी प्रतिक्रिया होती है जिससे बुराई और अधिक मात्रा में उभड़ती है। यह भी सम्भव है कि वर्षों के प्रेम, सौजन्य और व्यवहार पर स्याही ही पुत जाय। अगर जमनालालजी में शत्रु के साथ भी सद्भावना रखने और कर्मचारियों के साथ विवेकपूर्वक बर्ताव करने की योग्यता न होती तो उनकी सत्य-निष्ठा का दूसरों पर असर नहीं हो सकता था।

यह घटना भी उनकी सत्य-निष्ठा पर भारी प्रकाश डालनेवाली है। जमनालालजी के पितामह (दादाजी) बच्छराजजी अपने परिवार से अलग होकर ही वर्धा आए थे और अपने ही पुरुषार्थ से उन्होंने धन भी कमाया। दत्तक आने के बाद जमनालालजी ने भी कमाया ही। बच्छराजजी के पहले के परिवार वालों की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी। उन्होंने जमनालालजी पर बंटवारे के लिए मुकदमा कर दिया। उन्होंने सोचा लड़ने से कुछ धन हाथ लग ही जायगा। यह मुकदमा कई वर्षों तक चला। जमनालालजी ने इसके लिए वकीलों और मुनीमों की एक कमेटी बना दी थी जो मुकदमे सम्बन्धी सभी व्यवस्था करती थी।

इनके यहाँ एक पुरानी बही ऐसी थी जिससे मुकद्दमा जमनालालजी के विरुद्ध पड़ेगा, ऐसी शंका वकीलों और मुनीमों को होने लगी। उस बही को विरुद्ध पक्षवाले कोर्ट में पेश करवाना चाहते थे। इधर मुनीम ने बही छिपा दी।

जब जमनालालजी को यह बात मालूम हुई तब उन्होंने मुनीम से पूछ-ताछ की। पहले तो मुनीम ने बताने से इन्कार कर दिया। लेकिन जमनालालजी ने जब सख्ती से, सौगंद दिलाकर पूछा तो सच-सच बता दिया। इससे उन्हें काफी दुख हुआ। उन्होंने कहा कि हम जीतें या हारें, असत्य व्यवहार हमारे यहाँ नहीं होना चाहिए। आखिर वह बही कोर्ट में पेश कर दी गई।

तुम्हें यह जानकर अचरज होगा कि जिस बही को पेश करने में सबलोग खतरा और नुकसान महसूस करते थे, उसी बही के कारण मुकद्दमा जमनालालजी के अनुकूल बन गया। सत्य सदा निर्भीक होता है और सदा उसीकी विजय होती है।

: २ :

सम्बन्धों का विकास और निर्वाह

प्रिय ईश्वर,

पिछले पत्र में सेठ जमनालालजी बजाज की सत्यनिष्ठा और सफलता पर प्रकाश डाला गया था। तुम जान सकते हो कि केवल सत्य-व्यवहार और सत्य-संभाषण से ही जीवन सफल नहीं हो सकता। प्राचीन अनुभवी महापुरुषों ने सत्य के संबंध में बहुत कुछ लिखा है और उसपर जोर भी दिया है; किन्तु, यह भी कहा है कि सत्य प्रिय और हितकर भी होना चाहिए। यों कठोर वचन भी सत्य में ही आते हैं किन्तु ऐसी सचाई का उन्होंने निषेध ही किया है। इससे पारस्परिक स्नेह टूटता और अन्त में पश्चात्ताप भी करना पड़ता है। एक अन्धे व्यक्ति को अन्धा कहना सत्य हो सकता है, किन्तु कहनेवाले को उसका प्रेम नहीं मिलेगा। अगर मौका मिला तो वह उसे भी अन्धा करने की कोशिश करेगा।

सत्यको हम धरती कह सकते हैं। उसके बिना खेती तो हो ही नहीं सकती; लेकिन उस जमीन को अगर अनुकूल और आवश्यक खाद, पानी और हवा नहीं मिली तो जमीन अपने आप फसल नहीं देनेवाली है। यही बात सत्य-व्यवहार पर भी लागू हो सकती है। सत्य जीवन का मूल आधार है; लेकिन इसके साथ और भी कई ऐसे गुण हैं जिनकी निरंतर आवश्यकता पड़ती है। मीठी भाषा, प्रेम, सौजन्य, निर्लोभ-वृत्ति आदि के बिना हमारे संबंध टिके नहीं रह,

सकते। संबंधों के अभाव में जीवन-व्यवहार में सफलता प्राप्त करना प्राय: असंभव है। इसलिए पारस्परिक संबंधों को जोड़ने, बढ़ाने और उनके निभाने से ही और उसमें सत्यनिष्ठा रहने से ही सफलता प्राप्त की जा सकती है। अगर इसके महत्त्वको कोई न समझे और केवल सत्य-सत्यका नाम रटता रहे तो अचरज नहीं कि उसे पग-पग पर निराशा और असफलता प्राप्त हो। हो सकता है कि अस्थिर चित्त होकर वह अन्तमें सत्यको ही कोसने लगे। लेकिन यह हालत उन्हीं की होती है जो नहीं समझते कि एक के साथ और दूसरी कई बातें भी आवश्यक होती हैं। स्वर्गीय जमनालालजी ऐसे ही व्यक्ति थे जिन्होंने सत्यनिष्ठा में सहायक स्वरूप उन सब गुणोंका अपने में विकास किया था जो सत्यको चमका सकते थे।

मनुष्य सामाजिक जीव है। अकेला होकर वह चल नहीं सकता--उसकी गति अवरुद्ध हो जायगी। कौटुंबिक, सामाजिक और आर्थिक इस तरह अनेक प्रकार के संबंधों में ही आदमी का विकास और पोषण होता है। मेरा तो मानना है कि मनुष्य ज्यों ज्यों उदार और व्यापक होता जाता है त्यों त्यों उसके संबंध भी बढ़ते जाते हैं। वह पशु-पक्षियों से लेकर नद, नदी, निर्झर, नालों, बेल-फूल, फल-पत्ते, गुल्म-लता, सौरभ-बयार आदि प्राकृतिक सुन्दरता से भी अपने संबंध जोड़ लेता है। लेकिन संबंध जोड़े कैसे जायँ और उनका निर्वाह कैसे हो यह एक सार्वजनिक प्रश्न है। हर आदमी चाहता है कि उसके कुछ संगी-साथी हों, उससे प्यार चाहनेवाले तथा प्यार देनेवाले हों और संबंध सदा के लिए बने रहें।

व्यापकता व्यापार का मुख्य गुण है। जितने जितने और जैसे-जैसे हमारे संबंध व्यापक रूपसे बढ़ते जावेंगे वैसे-वैसे व्यापार उन्नत होगा। जमनालालजी कहा करते थे कि व्यापार में जो स्थान सचाई और प्रामाणिकता का है वही संबंध जोड़ने और निबाहने का है। संबंधों के जोड़ने में सावधानी की पूरी आवश्यकता है। समान रुचि, वृत्ति, और शक्तिवालों के संबंध अच्छे और स्थायी होते हैं और ऐसे संबंध ही एक दूसरे के पूरक और सहायक होते हैं। सावधानी संबंधी मुख्य बात तो यह है कि उनसे अनुचित लाभ उठाने की कोशिश नहीं होनी चाहिए। किंचित् भी स्वार्थवृत्ति का पता लग जाने पर संबंध टूटने में देर नहीं लगेगी। वे ही संबंध स्थायी और सहायक बनते हैं जिनसे पारस्परिक व्यवहार में खींचातानी नहीं होती और दूसरे की भावना और वृत्तिका खयाल रखकर अधिक लाभ पहुँचाने की दृष्टि रहती है। वे स्वयं कहा करते थे कि कम से कम लेकर अधिक से अधिक देना ही संबंध बनाए रखने के लिए आवश्यक है।

पूर्व पुरुषों के इस कथन में बहुत तथ्य है कि भलाई करके उसे भूल जाना चाहिए। हम एक व्यक्तिको जीवन भर सहायता पहुँचाते और उसकी हितकामना करते रहें लेकिन जिस दिन हमारे मुँहसे उसकी चर्चा निकल पड़ेगी उसी दिन उसके हृदय पर चोट-सी पड़ेगी और उसकी प्रतिक्रिया होगी। क्योंकि हर व्यक्ति निरंतर सेवा लेने के उपरांत भी यह स्वीकार करना पसंद नहीं करेगा कि उसमें पुरुषार्थ नहीं है। व्यक्तित्व के अहंपर चोट लगने का परिणाम

शत्रुता पैदा करता है। इसलिए अधिक से अधिक सेवा देने पर भी उसे भूल कर भी प्रकट नहीं होने देना चाहिए।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि आपस में किसी विषय को लेकर मतभेद हो जाता है। ऐसे समय एक दूसरे को गलत या नीचा न दिखाते हुए एकदम सहिष्णु बनकर दूसरे पक्ष के दृष्टिकोण को ही समझने का पूरा प्रयत्न करना चाहिए। मतभेद के समय प्रायः दोनों ओर उत्तेजना बढ़ जाती है और अपने पक्षको ही अधिक प्रामाणिक दिखलाने का प्रयत्न होता है और दूसरा पक्ष उस समय कुछ भी सुनना नहीं चाहता। परिणाम प्रायः यह होता है कि संबंध टूट जाते हैं और झगड़े शुरू हो जाते हैं। कई बार तो दोनों पक्ष बर्बाद भी हो जाते हैं। इसलिए जमनालालजी कहा करते थे कि ऐसे मौकेपर हमें अपनी ओर से संबंध पूर्ववत् बनाए रखने चाहिए। दूसरा पक्ष जो कुछ कहता है उसे ध्यानपूर्वक सुन लेना चाहिए और बहस नहीं करनी चाहिए। अगर अपनी गलती हो तो उसे तुरंत स्वीकार कर लेना चाहिए और दूसरे की गलती हो तो उस समय उसे प्रकट नहीं करना चाहिए। मतलब यह कि हमें उस समय अपने ऊपर पूरा संयम रखना चाहिए। अगर कुछ हानि भी उठानी पड़े तो सहन कर लेना चाहिए। व्यावहारिक दृष्टिसे यही लाभ की बात है। इसमें सैद्धांतिक लाभ भी है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि उत्तेजना या आक्रोश के समय सामनेवाले की गलती पर जोर देनेसे उसके अहंकार पर चोट पड़ती है और अपने को गलत या अप्रामाणिक प्रकट न होने देनेके लिए पूरी

शक्ति के साथ हठ पकड़ लेता है और जानते-बूझते भी अपनी गलत बातको सही सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। अपने पर संयम रखनेवाला सहिष्णु व्यक्ति खोता नहीं, बल्कि पाता ही है। सफल व्यापारी बनने के लिए इन सब बातोंका खयाल रखना आवश्यक है।

जमनालालजी तरुण थे। बम्बई में उन्होंने दूकान खोली थी और रूई के काम-काज के लिए कुलाबा जाया करते थे। शिवरी के समान ही कुलाबा उस समय रूई के व्यापार का प्रमुख केन्द्र था। टाटा का ध्यान जमनालालजी की ओर गया। टाटा की दृष्टि देश के धन-सम्पन्न होनहार तरुणोंपर सदा लगी रहती थी। वे चाहते थे कि ये तरुण यदि देश के उद्योग-धन्धों में भाग लेने लगें तो हमारा देश उन्नत हो सकता है। ऐसे तरुण-सम्पन्नों को उद्योग की ओर आकर्षित करने के लिए टाटा विविध उद्योगों के शेअर्स (हिस्से) बाजारभाव तेज होनेपर भी मूल कीमत में दिया करते थे। जमनालालजी के आचार-व्यवहारसे वे समझ गए कि यह होनहार है। एक दिन उन्होंने जमनालालजी से कहा कि वे स्वदेशी मिल्स के पाँच हजार शेअर्स खरीद लें।

यह पहले विश्व-युद्ध के समय की बात थी। कपड़े की मिलोंने उस समय काफी कमाई की थी और इस उद्योग का भविष्य भी उज्ज्वल दिखाई दे रहा था। जमनालालजीने हिस्से लेना स्वीकार कर लिया। टाटाने पाँच हजार हिस्से भेज दिए और उनकी मूल कीमत पचास हजार रुपए भेजने को लिखा। उस समय इन हिस्सों का

बाजार भाव १४ रु० प्रति हिस्सा था। जमनालालजी विचार में पड़ गए। उन्होंने उत्तर में टाटा को लिखा :

"आपने दस रुपए प्रति हिस्से के हिसाब से मुझे हिस्से दिए हैं यह आप की कृपा है, लेकिन इस समय बाजार भाव चौदह रुपए प्रति हिस्सा है। यदि आपको इन शेअरों का लेना लाभदायक जँचता हो तो मैं चौदह रुपए के भाव से यह हिस्से खरीद सकता हूँ। इस पत्र के साथ आपके हिस्से वापिस लौटा रहा हूँ।"

टाटा पर इस पत्र का बहुत प्रभाव पड़ा। वे जमनालालजी की प्रामाणिकता और निर्लोभता पर मुग्ध हो गए। ऐसे व्यक्ति के साथ कौन अपना सम्बन्ध नहीं बढ़ाना चाहता। टाटा ने भी जमनालालजी से अपना सम्बन्ध बढ़ाना शुरू किया।

जमनालालजी के यहाँ रूई का बहुत व्यापार होता था। उस समय रूई का बीमा विदेशी कंपनियाँ ही लिया करती थीं। इससे देश का बहुत सारा धन विदेश में जाता रहता था। जमनालालजी को लगा कि यदि बीमे की देशी कंपनियाँ खोली जायँ तो हमारा बहुत सा धन बाहर जानेसे रुक सकता है। टाटा को उनकी यह योजना बहुत पसन्द आई। जमनालालजी ने टाटा की मदद से 'न्यू इंडिया इन्शुरन्स कंपनी' स्थापित की। टाटा ने इस कंपनी के सारे हिस्से जमनालालजी को अधिगोपित (under write) कर दिए इस से जमनालालजी को बारह लाख रुपए का मुनाफा हुआ था।

बीस हजार के लोभ को छोड़ने से यह बारह लाख रुपए की कमाई उनके हाथ लगी और टाटा परिवार के साथ आजीवन संबंध बना रहा।

ऐसी ही एक घटना और लिखता हूँ। सेठ रामनारायणजी रुइया प्रसिद्ध उद्योगपति थे। इनके साझे में जमनालालजी का व्यापार चलता रहा। बीच में एक बार कुछ ऐसी घटना हो गई जिससे गलतफहमी बढ़ने की सम्भावना थी। किन्तु मामला कुछ ऐसा निपटा कि रुइया और बजाज परिवार अभिन्न हो गए। घटना इस प्रकार है :

रामनारायणजी का ससून ग्रूप से घनिष्ठ सम्बन्ध था। एक दिन ससून साहब ने रामनारायणजी से कहा कि वरोरा में हमारी जो जीनिंग ऍन्ड प्रेसिंग फॅक्टरी है उसे वे कीमत की जाँच-पड़ताल करके ही बेचें। रामनारायणजी ने कीमत ठहराकर जमनालालजी को वह फॅक्टरी बेच दी। बेचने से पहले रामनारायणजी ने दूसरे ग्राहकों से पूछ-ताछ की थी। तब उन लोगों ने पड़ती कीमत में अपनी माँग पेश की थी। व्यापारियों की यह स्वाभाविक वृत्ति है कि जो चीज बिकने के लिए बाजार में आती है उसकी कीमत वे कम ही आँका करते हैं। जमनालालजी ने तो यही कहा था कि इसकी जो वाजिब कीमत हो वह आप मुझसे ले लीजिए। दूसरे व्यापारियों की अपेक्षा कुछ अधिक कीमत लेकर फॅक्टरी जमनालालजी को बेच दी गई। बेच देने के बाद व्यापारियों को वह फॅक्टरी बड़ी लाभ-दायक दीखी। उन लोगों ने ससून साहब के पास अधिक कीमत के ऑफर भेजे। ससून साहब ने रामनारायणजी से इस विषय में चर्चा की। रामनारायणजी को व्यापारियों की मनोवृत्ति पर तो दुख हुआ ही, ससून साहब की इस बात से भी दुख हुआ। उस समय जमनालालजी भी वहीं पर थे। रामनारायणजी से उन्होंने पूछ

ताछ की। पहले तो उन्होंने आनाकानी की, लेकिन जब जमनालालजी ने आग्रह किया तब सही सही बात बता दी।

जमनालालजी ने कहा: 'यह कौन बड़ी बात है। आप ससुर साहब से कह दीजिये कि वे अधिक कीमत देनेवाले व्यापारी को फॅक्टरी बेच दें।'

अधिक कीमत में दूसरे व्यापारी को फॅक्टरी बेच दी गई। जमनालालजी की इस उदारता ने रामनारायणजी का चित्त आकर्षित कर लिया, और उनका सम्बन्ध केवल व्यापार तक ही नहीं, कौटुंबिक भी बढ़ता ही गया। रामनारायणजी अपने प्रत्येक कार्य में जमनालालजी की सलाह लेने लगे। रामनारायणजी की मृत्यु के बाद जमनालालजी 'रामनारायण सन्स' के ट्रस्टी बने थे। दोनों परिवारों का वह प्रेम संबंध अंत तक बना रहा।

इसी प्रकार की एक घटना और है जिसका उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है। जमनालालजी रूई का व्यापार सेठ हीरालाल रामगोपाल फर्म के साझे में करते थे। यह साझा बच्छराजजी के समय से ही चलता आया था।

एक समय की बात है कि बम्बई में मारवाड़ी विद्यालय स्थापित करने की चर्चा सामने आई। जमनालालजी ने इस कार्य के लिए पांच हजार या इससे कुछ अधिक रकम सहायता में प्रदान कर दी। मारवाड़ से लौटने पर फर्म के सेठ रामगोपालजी को जब मालूम हुआ कि उनके पीछे उक्त संस्था के लिए दान किया गया है तब वे इस बात को सहन नहीं कर सके। जमनालालजी ने

उनकी भावना को देखकर कहा कि मैंने जो दिया है वह तो दे दिया है। यह रुपया आप मेरे हिस्से में लिख सकते हैं। लेकिन सेठजी उत्तेजित हो चुके थे और उन्हें शायद अपने धन पर अभिमान भी था। अन्त में उन्होंने जमनालालजी को फर्म से पृथक कर दिया।

फर्म के पास रूई की गठानें थीं। सेठजी ने कहा कि सब गठानें नीलाम पर चढ़ा दी जायँ। लेकिन जमनालालजी फर्म की ओर से यह नीलाम होना ठीक नहीं समझते थे। उन्होंने कहा कि बाजार भाव से गठानें उन्हें दे दी जायँ। गठानें जमनालालजी ने खरीद लीं।

वर्धा में एक जीनिंग फैक्टरी भी थी। फर्म के सेठ रामगोपालजी ने सोचा कि यह फॅक्टरी भी जमनालालजी को दे दी जाय! फिर देखें बिना पैसे वह क्या करते हैं! उनकी आज्ञानुसार फॅक्टरी जमनालालजी के हिस्से में दी गई। मकान सेठ रामगोपालजी ने रख लिया।

लेकिन जब कुछ लोगों ने सेठ रामगोपालजी से कहा कि यह आपने क्या किया। केवल मकान से आप क्या कमा सकेंगे? फॅक्टरी के बिना काम कैसे चलेगा? जब जमनालालजी को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने सेठजी से कहलवाया कि यदि वे चाहें तो फॅक्टरी वापिस ले सकते हैं, जैसा वे कहेंगे करने को प्रस्तुत हूँ। लेकिन धन के अहंकार में चूर सेठजी ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। वे तो निरंतर यही चाहते रहे कि किसी तरह जमनालालजी को तंग किया जाय।

जमनालालजी के पास उस समय ज्यादा धन नहीं था। बम्बई के दूसरे व्यापारियों से उन्होंने रकम ली और काम चलाया। फिर सन् '१४ का विश्व-युद्ध छिड़ गया और उसमें उन्होंने काफी रुपया कमाया।

धीरे धीरे हीरालाल रामगोपाल फर्म ढीली पड़ती गई और जमनालालजी की उन्नति होती गई। फिर भी जमनालालजी ने अपने पूर्व सम्बन्धों का खयाल सदा रखा और उस परिवार की सदा सहायता की। और जमनालालजी उन लोगों को अपने यहां मुनीम रखकर मदद देते रहे और अन्त तक आदर करते रहे।

कहने का मतलब यह कि अत्यन्त विपरीत और विषम परिस्थिति और वातावरण में भी जमनालालजी अपनी ओर से सम्बन्ध बनाये रखने का भरसक ध्यान रखते थे।

इस तरह जमनालालजी अजातशत्रु थे। दूसरे उद्योगपतियों के साथ भी उनके अच्छे सम्बन्ध आये और जमनालालजी ने अपनी निर्लोभ वृत्ति से सबका प्रेम सम्पादित किया। इन सम्बन्धों से जमनालालजी को अपना व्यापार बढ़ाने तथा जीवन सफल बनाने में बहुत सहायता मिली थी।

: ३ :

कार्यकर्ताओं का चुनाव और संग्रह

प्रिय ईश्वर,

पिछले पत्र में सम्बन्धों के जोड़ने, बढ़ाने और निबाहने के विषय में लिखा गया है। इस पत्र में उसी से सम्बन्धित एक दूसरे विषयपर लिखना आवश्यक प्रतीत होता है। वह विषय है कार्यकर्ताओं और कर्मचारियों का चुनाव और संग्रह। कोई भी बड़ा कार्य कार्यकर्ताओं पर ही निर्भर करता है। जिस काम के लिए अच्छे कार्यकर्ता मिल जाते हैं वह प्रायः असफल नहीं होता। कार्यकर्ताओं के अभाव में या योग्य कार्यकर्ताओं के अभाव में अच्छे से अच्छा और महत्त्वपूर्ण कार्य ढीला पड़ जाता है, अधूरा रह जाता है या रुक ही जाता है। केवल व्यावसायिक दृष्टि से ही नहीं, धार्मिक सामाजिक और राजनैतिक दृष्टिसे भी कार्यकर्ताओं के चुनाव और संग्रह का बडा महत्व है। संचालकों में कार्यकर्ताओं के संग्रह का सूक्ष्म विवेक होना चाहिए। जमनालालजी ने व्यापार किया, सार्वजनिक क्षेत्र में अनेक सेवाएँ दीं और सब में वे सफल हुए। और इन सब का कारण यह है कि उन्होंने कार्यकर्ताओं के चुनाव और संग्रह का पूरा ध्यान रखा।

जमनालालजी की प्रवृत्तियाँ विविध-मुखी थीं। अछूतोद्धार, चरखा संघ, ग्रामोद्योग संघ, मारवाड़ी शिक्षा-मंडल, महिला सेवा

मंडल, हिन्दी प्रचार, गोसेवा संघ, रियासती प्रजा मण्डल आदि न जाने कितने काम उनके जिम्मे रहे पर सब में सफल ही नहीं हुए, कीर्ति भी प्राप्त की। कोई भी कार्य अकेला एक आदमी नहीं कर सकता। कार्यकर्ताओं और कर्मचारियों को ढूँढकर, जुटाकर, सिखाकर, अपना बनाकर उनका सहयोग प्राप्त करना सब के लिए अत्यन्त आवश्यक हो रहता है। कार्यकर्ता केवल आर्थिक लोभ की दृष्टि से ही आत्मीय नहीं बन सकते। जब उन्हें मालूम हो जाता है कि जिनके पास वे कार्य करते हैं वे उन्हें हृदय से चाहते हैं और आवश्यक सुविधायें देते हैं तथा सुख दुख में यथोचित खबर भी लेते हैं, तभी वे कार्य में पूरी शक्ति लगा सकते हैं। कह सकता हूँ कि जमनालालजी में यह दृष्टि गहरी थी। वे स्वयं कहा करते थे:

"कोई भी कार्य हो यदि मनुष्य केवल अपने ही हाथों करना चाहेगा तो उसका दायरा अत्यंत सीमित होगा और शायद एकांगी भी। वह कार्यकर्ता चाहे जितना शक्तिशाली हो पर हर व्यक्ति की शक्ति सीमित होती है इसलिए बड़े काम एक हाथ से नहीं हो सकते—कई प्रकार के लोगों का साथ लेना ही पड़ता है। कार्य का प्राण कार्यकर्ता होता है। हर कार्य के लिए योग्य और अनुभवी कार्यकर्ता सब जगह सुलभ नहीं होते। उनकी शोध करनी पड़ती है। ढूंढने से कार्यकर्ता मिल ही जाते हैं, लेकिन सब समान शक्तिवाले नहीं होते। हर एक की प्रकृति भिन्न भिन्न होती है। कुछ शक्ति संपन्न ऐसे होते हैं जो स्वतंत्र रूप से ही कार्य कर सकते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो योग्य बनाने पर स्वतंत्र रूप से

कार्यक्षम हो सकते हैं। और कुछ ऐसे होते हैं जो किसी के अधीन रह कर ही कार्य कर सकते हैं। बड़े कार्यों में सब तरह के कार्यकर्ताओं की जरूरत होती है—सब का उपयोग लेना वांछनीय होता है। संचालक या संयोजक को सब के संपर्क में आकर, सब की शक्ति को पहचानकर उनके योग्य कार्य की योजना करनी चाहिए।

जो स्वतंत्र रूप से कार्य करनेवाले होते हैं वे अपने कार्य में किसी का हस्तक्षेप पसंद नहीं करते इसलिए उन्हें परखकर बुद्धि और योग्यतानुसार स्वतंत्र कार्य सौंप देना चाहिए। वे जब चाहें और आवश्यक हो तब उन्हें उचित सलाह दे देनी चाहिए। बार बार रात-दिन के कार्यों में हस्तक्षेप करने यानी अधिकार जताने को वे अपमान समझते हैं और निभ नहीं सकते।

जिन्हें तैयार करना होता है उनका चुनाव करते समय यह देख लेना चाहिए कि वह अप्रामाणिक तो नहीं है? वह परिश्रमी और कार्य के प्रति रुचिवान है या नहीं? वह एकदम मंद बुद्धि तो नहीं है? सामान्य रूप से यदि वह प्रामाणिक, परिश्रमी, बुद्धिमान तथा लगनशील हो उसे हाथ में लेना चाहिए। कार्यकर्ता के निर्माण का सब से उपयुक्त स्थान कार्यक्षेत्र होता है। पूर्वजोंने कार्य को ही मनुष्य का गुरु माना है। शुरू से कोई आदमी किसी विशेष कार्य का ज्ञाता नहीं रहता पर श्रम और लगन से कार्य करते रहने पर वह उसमें निष्णात हो सकता है। ऐसे कई महापुरुष हो गये हैं जिन्हें शुरू शुरू में अत्यंत साधारण अवस्था में निम्न श्रेणी का

कार्य करना पड़ा था, पर अपनी श्रमनिष्ठा, लगन सीखने की वृत्ति से थोड़े दिनों में वे कुशल और अनुभवी बन गए।

जमनालालजी के पास कामकी तो कोई कमी थी नहीं। सैकड़ों सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओंसे उनका संबंध था। व्यापार भी उनका काफी विस्तृत था। उनके पास जो कई नवयुवक आते और काम चाहते, उनसे वे कहते कि मेरे पास जो काम हैं उनमें जो काम तुम्हारी रुचि और वृत्ति के अनुकूल हो उसे चुन सकते हो। उनका मानना था कि नौकरी नहीं मिलती और रुचि का काम नहीं मिलता इसलिए चाहे जो कार्य करने से व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता। जो लोग अधिक धन प्राप्ति के प्रयत्न में एक के बाद दूसरे को छोड़ते पकड़ते रहते हैं वे प्रतिभाशाली हों तो भी अपना विकास नहीं कर सकते। इसलिए थोड़ा समय भी लगे पर अपनी रुचि और वृत्ति के योग्य कार्य ढूंढ कर उसमें स्थिरचित्त हो लग जाना चाहिए। वास्तविक सफलता इसीसे मिलती है।

कार्यकर्ताओं के निर्माण का एक तरीका है जिसपर पूरा ध्यान रखना चाहिए। वह यह कि जो कार्य हमारे पास हो, उसकी पूरी जानकारी हमें होनी चाहिए। जिस कार्य को हम नहीं जानते और उसे सुव्यवस्थित रूप से करने का आदेश देते रहें तो इससे कार्यकर्ताओं में प्रतिक्रिया ही जागृत होती है। इसलिए जहां तक हो सके कार्यकर्ताओंको उपदेश या आदेश नहीं देना चाहिए।

जबतक हमें कार्य की पूरी जानकारी नहीं होगी तबतक उसमें लगनेवाली शक्ति, समय आदि के संबंध में कार्यकर्ताओं का मार्गदर्शन भी तो नहीं किया जा सकता। निकट संपर्क आनेपर जब किसी प्रकार की गलतफहमी होनेका डर न रहे और कोई कठिनाई उपस्थित हो जाय तबही सलाहके रूप में उपदेश करना उपयोगी हो सकता है।

मनुष्यसे गलती होना स्वाभाविक है। किसी कामके बिगड़ने पर या गलती हो जाने पर कई लोग कर्मचारियों को बुरी तरह डाँटते-फटकारते हैं और उन्हें भला बुरा कहते हैं। इससे कार्यकर्ता का दिल टूट जाता है और कार्य में वह पूरी शक्ति नहीं लगा पाता। वह समझने लगता है कि अधिकारी को उसकी रुचि, वृत्ति और भावना की कोई परवाह नहीं। मैं ही अपने को क्यों खपाऊँ? इस तरह दोनों की हानि होती है। और मनमें कसक रहने से मनमुटाव बढ़ता जाता है। इसलिए जमनालालजी देखा करते थे कि गलती क्यों और किस स्थिति में हुई। अनुभवहीनता या गलतफहमी से अगर गलती हो जाती थी तो वे उसे सुधारने का पुनः मौका देते थे और डाँट-फटकार की जगह प्रेम से समझाते थे। इससे कार्यकर्ता को सांत्वना मिलती, उसे अपनी गलती से सीखने को मिलता और वह अधिकाधिक उनके निकट पहुँचता। वे कार्यकर्ता को रखते समय यही सोचते थे कि वह स्थायी रूप से उनका अपना बन कर रह रहा है और रखा जा रहा है। वे मानते थे कि कार्यकर्ताओं को बारबार बदलते रहने से कार्य को हानि पहुँचती है और परेशानियाँ बढ़ती है।

जमनालालजी कहा करते थे कि जिस कार्यकर्ता को नियुक्त किया जाय उसे उतना वेतन अवश्य दिया जाना चाहिए जितने खर्च की उसके परिवार को आवश्यकता है। परिवार की हालत को बिना समझे, कम वेतन पर रखने में खतरा है। अपने खर्च की पूर्ति तो उसे कहीं न कहीं से करनी ही पड़ेगी। इसके लिए या तो वह चोरी करेगा या कहीं से अधिक वेतन मिलने का प्रलोभन या मौका पाकर चला जावेगा। समय-समय पर कार्यकर्त्ताओं की पारिवारिक स्थिति की जांच-पड़ताल और पूछ-ताछ करते रहना चाहिए, उनके घर पर भी जाना चाहिए। जीवन में कभी-कभी कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाया करती हैं। जब तक वे दूर नहीं होतीं तब तक काम में चित्त बराबर नहीं लगता। ऐसी स्थिति में उन्हें समझने का प्रयत्न करना चाहिए और हो सके तो उनकी कठिनाई दूर करनी चाहिए। ऐसा करने से वे अधिकारी के निकट-निकट पहुँचते हैं और काम भी मन लगाकर अपना समझकर करते हैं। जमनालालजी यह भी ध्यान रखते थे कि किसी के यहाँ अनुचित खर्च तो नहीं होता है। यह देखने के लिए वे स्वयं होकर कार्यकर्त्ताओं के यहाँ भोजन आदि करने को जाया करते थे। भोजन तो वे क्या करते, पर उस बहाने भोजन की पद्धति, रुचि, खर्च तथा घर की साफ-सफाई, फिजूलखर्ची आदि का सूक्ष्म निरीक्षण कर लिया करते थे। पास-पड़ौस का वातावरण कैसा है, लड़के-बच्चे किस मनोवृत्ति के हैं, वे पढ़ते-सीखते हैं या नहीं—उनपर ध्यान रखा जाता है या नहीं आदि सारी बातें वे जान लेते थे।

और जो कमी या त्रुटि रहती थी उसका संकेत बड़े प्यार से कर देते थे। इससे कार्यकर्त्ता में अपनत्व की भावना निर्माण होती और वह सदा के लिए उनका बन जाता।

निम्न लिखित कतिपय घटनाओं से तुम उनके और कार्य-कर्त्ताओं के बीच के सम्बन्धों को जान सकोगे।

सब से पहले मैं अपनी ही बात कह दूँ। महाराष्ट्र से ही मैंने सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश किया। वहाँ राजनीति में काफी वाद विवाद चलता था। इसी कारण मेरी आदत भी कुछ अधिक बहस करने की पड़ गई थी। उनके सम्पर्क में आने पर वे इस दोष को ताड़ गए। बार-बार वे मुझे टोकते रहते कि यह आदत अच्छी नहीं है। मेरी आदत यहाँ तक बढ़ गई थी कि मैं किसी की बात सुनता ही नहीं था, अपनी ही हांके जाता था। इसमें मुझे एक प्रकार का आनन्द अनुभव होता और अभिमान भी कि मैं पराजित नहीं होता। इसके साथ ही एक दोष मुझमें यह था कि बिना पूर्वापर विचार किए या बिना अपनी शक्ति और सीमा का खयाल किए कई जिम्मेदारियाँ भी लेने को तैयार हो जाता। लेकिन वे तो टोकते ही जाते। उनका यह बार-बार का टोकना मुझे अच्छा नहीं लगता था। एक दिन मैं इससे बहुत नाराज हो गया और समझ लिया कि जमनालालजी मुझे चाहते नहीं हैं। मैंने कहा :

"काकाजी, यदि मैं आपकी दृष्टि में केवल बातूनी, अव्यावहारिक और निकम्मा ही जंचता हूं तो मुझे आप इजाजत दे दीजिये।"

सुनकर वे हंस दिये। बोले "अरे, इसीलिए तो तुझे मैं अव्यावहारिक कहता हूँ। तुझे इतनी भी समझ नहीं है कि यह सब मैं क्यों कह रहा हूँ? जिसपर अधिक स्नेह होता है उसे ही सिखाया-समझाया जाता है। अपना आदमी निर्दोष बने यह इच्छा रहती ही है।"

इसपर उन्होंने मुझे एक कहानी सुनाई।

संस्कृत साहित्य में भास नामक एक प्रसिद्ध कवि हो गया है। राज दरबार में उसका काफी सम्मान था। उसे राज्य की ओर से बड़े-बड़े पारितोषिक मिला करते थे। वह राज-कवि था। लेकिन जब वह अपनी रचनाएं पिता को सुनाता, तो वे उनमें दोष ही निकाला करते। कभी भाव, कभी शैली, कभी कल्पना इस तरह छंद, मात्रा, अलंकार, रस, व्याकरण आदि की अनेकों त्रुटियाँ ही बताया करते। प्रशंसा कभी नहीं करते। कभी-कभी उसके दो-चार मित्रों के समक्ष भी ऐसा ही कहते रहते। इस से भास को बहुत बुरा लगता। वह समझने लगा कि पिताजी उसका उत्कर्ष बर्दाश्त नहीं कर सकते और इसीलिए चार मित्रों के बीच मेरा अपमान किया करते हैं। इनके जीते-जी मेरा विकास हो ही नहीं सकेगा।

यह सोचकर उसने निश्चय किया कि पिता को मार डालना ही उचित है। अपने विकास मार्ग के रोड़े को नष्ट कर देना ही श्रेयस्कर है।

एक दिन रात को जब छतपर उसके माता-पिता सोये हुये थे, वह खड्ग लेकर सीढ़ियों पर चढ़ने लगा। लेकिन उसके कानों

में कुछ आवाज आ रही थी। सुनने के लिये वह बीच की सीढ़ी पर ही रुक गया।

ऊपर दोनों की चर्चा हो रही थी।

माँ ने कहा: "आज का यह शरद पूर्णिमा का चन्द्र कितना सुहाना है!"

पिता ने कहा: "सचमुच इस प्रकाश को देखकर मुझे भास की कविता की निर्दोषता का ध्यान आता है।"

माँ ने पूछा: "लेकिन आप तो निरन्तर उसकी कविताओं में दोष-ही-दोष निकाला करते हो। इस से वह कितना निरुत्साह होता होगा!"

पिता ने उत्तर दिया: "तुम ठीक कहती हो, लेकिन उद्देश्य मेरा यह नहीं है। उसे निरुत्साह मैं बिलकुल नहीं करता। मैं उसके दोष इसीलिये निकाला करता हूँ कि वह अधिकाधिक निर्दोष और शुद्ध रचनाएं लिख सके। जिस दिन उसके मुँह पर मैं प्रशंसा कर दूँगा, समझ लेना कि उसका विकास वहीं रुक जायगा। यों वह सर्वश्रेष्ठ कवि तो है ही।"

भास को अपने हीन-विचार पर ग्लानि हो आई और वापिस लौट गया। दूसरे दिन प्रातःकाल पिता के पैरों पड़कर उसने अपने विचार के लिए क्षमा मांगी।

यह कहानी सुनाकर वे बोले: "अभी तुममें पिता के हृदय को जानने की शक्ति नहीं है; इसीलिए ऐसी बातें करता है।"

उन्होंने मुझे जीत लिया। वे मुझे हृदय से पुत्र के समान ही चाहते थे और संकट के समय पुत्र की तरह ही मुझे सहायता की। अगर मुझमें तुम कोई अच्छी बात पाओ, तो वह उन्हींकी देन है। जो दोष मुझमें रह गए हैं वे मेरे निजके हैं; क्योंकि मुझमें इतनी शक्ति नहीं थी कि उनकी सभी बातों को अपना सकता।

चिरंजीलालजी बड़जाते को तो तुम बहुत कुशल और व्यावहारिक समझते हो न! उनमें इतनी कुशलता और व्यावहारिकता कहाँ से आई? अगर जमनालालजी का स्नेह और सम्पर्क न मिला होता तो चिरंजीलालजी जैसे अशिक्षित व्यक्ति का इतना विकास नहीं हो सकता था। इनकी एक घटना यहाँ देने से तुम्हारे ध्यान में आ जायगा कि जमनालालजी अपने कार्यकर्त्ताओं के साथ कैसा बर्ताव करते थे और उनकी भावना का कितना अधिक ध्यान रखते थे।

चिरंजीलालजी का जन्म मारवाड़ के एक गांवड़े में गरीब घर में हुआ। मामाजी के यहाँ रहकर थोड़ी-सी शिक्षा पाई। फिर मध्यप्रदेश में एक व्यापारी के यहाँ काम सीखने लगे। अक्षर तो तुम जानते ही हो, उनके कितने खराब होते हैं। फिर वे वर्धा में धनी परिवार में गोद आ गये। धनी परिवार में आये तो, पर रूई के व्यापार में सब धन खो दिया। खो ही नहीं दिया, सिर पर कर्ज भी हो गया।

अब वे जमनालालजी के यहाँ नौकरी करने लगे! जमनालालजी ने इन्हें भाई के समान रखा। एक समय की बात है कि

एक रिश्तेदार के जरूरी काम के लिए चिरंजीलालजी एक मास की छुट्टी लेकर बाहर गए हुए थे। लौटने पर बीमार पड़ गए। बीमारी ४-५ महीनों तक चलती रही। आर्थिक हालत तो नाजुक थी ही, पैसा पास में था नहीं। चिरंजीलालजी को वेतन देना तो दूर, एक मास की छुट्टी का रुपया भी मुनीम ने नहीं दिया। और बीमारी में खबर भी लेने को कभी उनके घर नहीं गए। यह तो हुआ ही, पर जिस रिश्तेदार—और वह धनीमानी था—के लिए चिरंजी-लालजी बाहर गए थे उसके करीब २८) इनकी तरफ लेने रह गए थे। उसने तगादा भेज दिया। इससे चिरंजीलालजी को काफी वेदना हुई। आदमी के पास पैसा न हो और कोई सहानुभूति प्रकट करनेवाला भी न हो तो उसके सामने जीवन एक जंजाल बन जाता है। स्थिति यह हो गई कि वस्तुएँ बेचकर घर खर्च चलाना आवश्यक हो गया था। किसी तरह जमनालालजी को उनकी बीमारी के समाचार मिल गए और यह भी मालूम हो गया कि अब तक का वेतन भी नहीं दिया गया है। वे चिरंजीलालजी के पास गए और छुट्टी के महीने से लेकर उस दिन तक का सारा वेतन उन्हें देते हुए मुनीम की लापरवाही और गलती के लिए दुख प्रकट किया। और जब भी जिस बात की आवश्यकता पड़ी उसकी पूर्ति का पूरा ध्यान रखा। उनका कहना था कि आपत्ति, बीमारी और संकट के समय तो कर्मचारियों का पूरा ध्यान रखना मालिक का धर्म है। यही कारण है कि आज चिरंजीलालजी हमारे सामने इतने कुशल और व्यवहारी दिखाई देते हैं। वे पूरी तरह जमना-लालजी के हो चुके और अपने को उनके लिए समर्पित कर दिया।

कहाँ तो वह सेठ जो बीमारी में भी अपने २८) के लिए, उस आदमी के पास तगादा भेजता है जो छुट्टी निकाल कर अपना समय उसके लिए खर्च करता है, कहाँ वह मुनीम जो छुट्टी का वेतन भी नहीं भिजवाता और कहाँ सेठ जमनालालजी जो मुनीम की गल्ती के लिए स्वयं दुख प्रकट करते हैं और पूरी मदद करते हैं। आदमी इसी तरह आत्मीय बनता है।

केवल बड़े और ऊँचा कार्य करनेवाले कार्यकर्ताओं के साथ ही नहीं, छोटे से छोटे और मामूली हैसियत के कर्मचारियों के साथ भी उनका व्यवहार सौजन्यपूर्ण होता था। उनके निकट जो भी व्यक्ति रहता, उसके विकास, सन्तोष और निर्माण का वे पूरा ध्यान रखते थे। इसीलिए उनकी सेवा करने में सब को प्रसन्नता होती थी। यहाँ मैं एक ऐसी ही मर्मस्पर्शी घटना का उल्लेख करता हूँ।

विट्ठल को तो तुम जानते ही हो। वह आजकल बैंक ऑफ नागपुर में कार्य करता है। मालिश करने में वह पटु है। अपने यहाँ भी वह रोज मालिश करने आया करता है। बड़ा परिश्रमी और सरल आदमी है वह। उसने एक दिन अपनी कहानी सुनाते हुए जमनालालजी की उदारता, सौजन्य और सहानुभूति के विषय में कहा:

"जमनालालजी के यहाँ नौकरी पर लगे मुझे आठ ही दिन हुए थे। कारणवश मुझे उनके साथ बम्बई जाना पड़ा। एक दिन सेठजी को तार मिला कि मेरे पिता का देहान्त हो गया है।

सेठजीने मुझे अपने पास बुलाया, ढाढ़स बंधाई और वर्धा जाने के लिए कहा। मैं था मामूली नौकर, मेरे पास आने-जाने के लिए पैसा कहाँ था। मैंने कहा: 'मैं अब आज जाकर क्या करूँगा। अग्निसंस्कार तो हो ही चुका होगा। अब तो मैं बारहवीं के दिन ही पहुँचने की कोशिश करूँगा।' पर सेठजी तो मुझे जानते थे। उन्होंने मेरी हालत और घटना के महत्व को जानकर कहा: 'देखो, तुम्हें जाना ही चाहिए। मैं जानता हूँ कि तुम्हारे पास रुपया नहीं है। कोई बात नहीं, जाते समय सौ रुपए ले जाना।'

"सुनकर मैं तो हक्का-बक्का रह गया। वर्धा जाने की मेरी इच्छा तो थी ही, पैसे की मजबूरी से ही मैं टाल रहा था। फिर नौकरी पर रहे कुल आठ ही दिन तो हुए थे; ऐसी हालत में पेशगी रुपया मांगने की हिम्मत नहीं हुई। पर जब उन्होंने एक सौ रुपया ले जाने को कहा तो एक ओर मन में जाने का आनन्द हो रहा था, दूसरी ओर उनके प्रति असीम श्रद्धा उमड़ रही थी। मैं तत्काल कुछ बोल न सका। मैं इतना गरीब था और उनके लिए नया था कि मुझे दस रुपए भी मिल सकेंगे, इसकी कल्पना नहीं कर सकता था। गरीबों के साथ इतनी आत्मीयता और उदारता का व्यवहार करनेवाला दूसरा कोई मेरे देखने में नहीं आया।

"इतना ही नहीं, उन्होंने मुझे प्रेम से काम करना सिखाया। मेरे घर में किसी चीज की कमी रहती या अड़चन रहती तो मेरा वे पूरा खयाल रखते थे। कभी कोई गलती हो जाती तो प्रेम से ही सुधारने को कहते, गुस्सा कभी नहीं किया।"

उसीने अपनी एक घटना और सुनाई थी :

"ठण्ड के दिन थे। उन दिनों सेठजी सेवाग्राम रहने के लिए गए थे। मैं भी उनके साथ था। सेठजी बड़े सबेरे उठ जाया करते थे। मेरे पास एक ही चादर थी। उससे ठण्ड हटती तो नहीं थी, पर मैं कहता किससे, और मेरे पास इतना पैसा भी कहाँ था कि दूसरी चादर खरीद सकता। एक दिन उन्होंने मुझे एक चादर में ठिठुरते हुए देख लिया। उन्होंने उसी दिन खादी भाण्डार से एक कम्बल तथा गर्म बंडी खरीदकर मंगवा दी।"

तुम जान सकते हो कि इस तरह सहायता और सहानुभूति प्राप्त व्यक्ति अपने मालिक के प्रति कितने ईमानदार और सेवा भावी रहते हैं। उनका नाम आते ही विट्ठल जैसे गद्‌गद् हो जाता है।

इसी तरह की दो घटनाएँ और देता हूँ।

आजकल जहाँ महिलाश्रम है, वहाँ पहले विनोबाजी का आश्रम था। आश्रम में कुछ गाएँ भी थीं। एक दिन गाय चरानेवाले लड़के को गाय ने सींग मार दिया जिससे उसे चोट आ गई। उसे अस्पताल भेज दिया गया। जमनालालजी उसे देखने के लिए बराबर जाया करते थे।

जमनालालजी जिन दिनों जेल में थे, आश्रम का एक कार्यकर्त्ता बीमार हो गया था। खबर तो उनके पास पहुँच ही गई थी। जिस दिन वे जेल से छूटकर आए और स्टेशन पर उतरे उस दिन सबसे पहले सीधे उस कार्यकर्त्ता को देखने अस्पताल पहुँचे। तुम कल्पना

कर सकते हो कि जमनालालजी जैसे प्रसिद्ध और संपन्न व्यक्ति के जेल से छूटने की खबर पाकर कौन ऐसा कुटुम्बी, सहयोगी और व्यापारी होगा जो स्टेशन पर पहुँचकर स्वागत करने तथा उनसे बातचीत करने या मिलने के लिए उत्सुक न हो। पर जमनालालजी जानते थे कि किस व्यक्ति को कब और कैसी सहानुभूति की अपेक्षा होती है और उसका जीवन के साथ कितना सम्बन्ध रहता है। वे अपने आराम और सुख-सुविधा की अपेक्षा कार्यकर्त्ताओं का ही पूरा ध्यान रखते थे। वे कहते थे कि यदि हम लोग ही इनके साथ आत्मयिता का बर्ताव नहीं करेंगे तो दूसरा कौन करेगा।

वह गाय चरानेवाला मामूली लड़का हो या कोई कार्यकर्त्ता; सब के साथ वे बंधु-भाव का बर्ताव करते थे। जब कार्यकर्त्ता को देखने स्वयं जमनालालजी सर्वप्रथम गए तो उसका मन कितना आनन्दित हुआ होगा!

घटनाएँ बहुत छोटी होती हैं, परंतु उनके पीछे बड़े-बड़े तत्त्व छिपे रहते हैं। इसी तरह मनुष्य का विकास और निर्माण होता है।

इससे तुम जान सकोगे कि वे एक नहीं, सैकड़ों कार्यकर्त्ताओं के सहायक, सर्जक और गुरु थे, पिता थे और सर्वस्व थे।

: ४ :

कार्यकर्त्ताओं की कसौटी

प्रिय ईश्वर,

पिछले पत्र में कार्यकर्त्ताओं के संग्रह, चुनाव और निर्माण के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण पर प्रकाश डालनेवाली कुछ घटनाएँ लिखी थीं। कार्यकर्त्ताओं को जुटाकर, अपनाकर उन्हें निभा लेना और उनके प्रति प्रेम, उदारता, सहानुभूति आदि का व्यवहार करना एक बात है और उनकी योग्यता और अयोग्यता को परखना दूसरी बात है। प्रेम और सहानुभूति के साथ साथ नियम और अनुशासन के प्रति दृढ़ और कठोर रहना भी जमनालालजी आवश्यक मानते थे। व्यवहार में कभी-कभी ऐसा बर्ताव पारस्परिक भ्रांति उत्पन्न कर देता है। लेकिन जब वस्तुस्थिति और अनुशासन की दृष्टि से विचार किया जाता है, तब ऐसी भ्रान्तियाँ अपने आप दूर हो जाती हैं।

आज मैं कार्यकर्त्ताओं से सम्बन्धित इसी दूसरे पहलू पर विचार प्रस्तुत कर रहा हूँ। लोक-संग्रह की बात ठीक तो है, लेकिन अगर अनुशासन की दृढ़ता का अभाव हुआ या थोड़ी भी ढिलाई रही तो निकम्मे लोगों की जमात इकट्ठी हो जाती है और काम के बिगड़ने का डर रहता है। इसलिए हर बात की मर्यादा होनी चाहिए। मर्यादा का अतिरेक या उल्लंघन होने पर कार्य में विकृति या मन्दता आ जाती है—वह अव्यवस्थित हो जाता है और फिर हजार सद्-भावना होने पर भी सुधर नहीं पाता।

जमनालालजी तो नियमों के पालन और अनुशासन में कठोर थे ही, लेकिन मैंने उन लोगों के मार्गदर्शन में भी कार्य किया है जो कठोरता को उतना महत्त्व नहीं देते, बल्कि मृदुल और नर्म स्वभाव के भी हैं। जब मैंने सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश किया तब मुझे सर्वप्रथम अण्णा साहब दास्ताने की छत्र-छाया में कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे एक सेवा-परायण सन्त हैं। उनके हृदय में देश के गरीबों के प्रति असीम करुणा और स्नेह भरा है। उनका दुख दूर करने के लिए उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया और शक्ति भर किसी प्रकार का प्रमाद न कर केवल सेवा ही नहीं की, बल्कि लोग सेवा-यज्ञ में प्रवृत्त हों इसलिए अथक प्रयत्न भी किया। गान्धीजी के रचनात्मक कार्यों की नींव महाराष्ट्र में डालने में उनका बहुत हाथ रहा है। प्रकृति से सरल, भावनाशलि और करुणाचित्त होने के कारण वे किसी भी कार्यकर्त्ता के साथ कठोरता से पेश आ ही नहीं सकते। उनका व्यवहार अत्यन्त मृदुल और नर्म रहता था। किसी की भावना को जरा भी चोट न पहुँचे या किसी का मन दुखी न हो, इसका वे पूरा ध्यान रखते हैं। तुम जान सकते हो कि ऐसे आदमी को कितना क्या सहन नहीं करना पड़ा होगा। लेकिन अचरज है कि वे लोक-संग्रह नहीं कर सके। उन जैसे सन्त के मन में तो इस सम्बन्धमें कोई विचार ही नहीं उठ सकते—वे तो अपना काम सचाई और सेवा-भावना से किए जाते हैं। पर मैं तुम्हें बता रहा था कि अनवसर का प्रेम और करुणा भी कई बार सफलता में बाधक बन जाती है।

भगवान् महावीर और बुद्धदेव ने भी कहा ही है कि मित्रता, प्रमुदता और करुणा सीमित ही होनी चाहिए। यह एक बड़े तत्व और तथ्य की बात है।

लेकिन जमनालालजी ने देशसेवा की, त्याग किया, व्यापार किया और लोक-संग्रह के कार्य में वे सफल ही हुए। यों तो उनकी बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्म और तीव्र थी और वे सम्पर्क में आनेवाले कार्यकर्त्ता को तुरन्त ही पहिचान लेते थे। लेकिन वे केवल अपनी बुद्धि और दृष्टि पर ही सर्वथा अवलम्बित न रहकर उस व्यक्ति के सम्बन्ध में उससे सम्पर्कित लोगों से विविध प्रकार की—स्वभाव, रुचि, वृत्ति, आवश्यकता, आदि की—खोजबीन करते और पूछते रहते थे। फिर सम्पर्क साध लेने के बाद दो-एक प्रसंगों से देखते थे कि वह संग्रह करने के योग्य है या नहीं। वे कार्यकर्त्ता में निःस्वार्थवृत्ति, प्रामाणिकता, लगन और परिश्रम-शीलता का रहना अत्यन्त आवश्यक मानते थे। दम्भ और घुमाव-फिराव उन्हें बिलकुल अच्छा नहीं लगता था। जो आदमी जैसा कहता है वैसा करता है या नहीं, इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही उसे वे जिम्मेवारी का कार्य सौंपते थे और फिर उसमें कसते थे। तरीका उनका प्रेम-पूर्ण रहता था, लेकिन मूल सिद्धान्तों के पालन में वे समझौता नहीं कर सकते थे। अपने समान ही कार्यकर्त्ता को सत्य के प्रति निष्ठावान बनाने का वे प्रयत्न करते थे। जीवन-विकास के लिए जिन मौलिक बातों का आदमी में रहना वे आवश्यक समझते थे, उनके पालन करवाने में कठोरता का वर्ताव करना भी वे जानते थे। अन्तःकरण में

कोमलता और स्निग्धता रखते हुए भी वे बाहर से कठोर बन जाते थे। महाकवि बनारसीदासजी के शब्दों में उन्हें हम श्रीफल (नारियल) की उपमा दे सकते हैं। नारियल बाहर से अत्यन्त कठोर रहता है, किन्तु भीतर से वह उतना ही स्निग्ध और मधुर रहता है।

जमनालालजी का नियम था कि उनके पास नियमित समय पर आँकड़ा (बैलेंस शीट) पहुंच ही जाना चाहिए और अपनी निर्धारित व्यवस्था में किसी तरह का अन्तर या ढीलढाल वे पसंद नहीं करते थे। एक समय की बात है कि मुख्य मुनीम ने बिना जमनालालजी से पूछे ही एक व्यक्ति को कर्ज दे दिया। मुनीमजी उनके निकट कुटुम्बी में से ही थे। पर आँकड़ा हाथ में आते ही उन्होंने उस रकम पर निशान लगा दिया। दूकान पर पहुँचकर उन्होंने मुनीम को काफी डाँटा—इसलिए नहीं कि दे दिया था, बल्कि इसलिए कि बिना पूछे देकर नियम का उल्लंघन किया गया था। यह रुपया मुनीम के नाम लिखे गए। हिसाब के सम्बन्ध में वे सदा सावधान रहते थे और जमा-खर्च समय पर तथा व्यवस्थित हो' इसपर ध्यान दिया करते थे। जरा भी असावधानी या ढीलढाल में वे धोखा देखते थे।

एक समय की बात है कि एक व्यक्ति, जो उनके पास कई वर्ष तक रहा था, उन्हीं की दूसरी कंपनी का उच्च अधिकारी बन गया। वेतन भी पर्याप्त मिलता था। लेकिन तुम जानते हो, जिसके पास पैसा हो और वह अच्छे पद पर हो तो आस-पास निकम्मे और खुशामदी लोग मण्डराने लगते हैं। ये लोग उसका खर्च बढ़ा देते

हैं और वह अपनी शान के लिए यह सब करते हुए आनन्द का अनुभव करने लगता है। परिणाम यह हुआ कि उसने कंपनी के माल की बिक्री का कुछ रुपया उठा लिया। कंपनी को जब खबर लगी, तब जाँच-पड़ताल शुरू हुई। वह वर्धा आया। वह लोक-प्रिय था और उसके कई मित्र भी थे। उन सबका आग्रह था कि उसे किसी तरह बचा लिया जाय। लेकिन जमनालालजी किसी तरह टस से मस न हुए। उन्होंने आखीर तक यही कहा कि जो कुछ हुआ है वह सच सच बता दे। सच सच बताने में खतरा था। अपराध कुछ ऐसा था कि सिवा जेल-दण्ड के और कोई उपाय नहीं था। मामला बढ़ चुका था। इसलिए उसकी हिम्मत सच सच बताने की नहीं हुई और न उसके मित्र ही सच सच बताने की सलाह दे सकते थे। पर जमनालालजी भी कहाँ पसीजने वाले थे!

जब वे सार्वजनिक कार्यों की अधिकता के कारण वर्धा दूकान का काम-काज देखने के लिए समय नहीं बचा पाते थे, तब तीन व्यक्तियों की एक समिति बना दी। जिस कार्य में तीनों एकमत होते उसके विषय में तो जमनालालजी को पूछने की जरूरत नहीं रहती लेकिन मतभेद होने पर तीनों अपना-अपना मत लिखकर उनके पास निर्णय के लिए भिजवा दिया करते। ऐसे कामों में वे कभी ढील या प्रमाद नहीं करते थे। उनका नियम-सा था कि प्रातःकाल बड़े सबेरे उठ कर पहले प्रार्थना करते और फिर हाथ-मुँह धोकर करीब पाँच बजे ऐसे विवादग्रस्त मामलों को निपटा दिया

करते और उन पर अपना निर्णय लिखकर भेज देते। व्यापार में निर्णय की ढिलाई हानिकर होती है।

व्यावहारिक दृष्टि से वे बहुत कड़े परीक्षक थे। कार्यकर्त्ता की थाह लेने, उसकी शक्ति और वृत्ति तथा ध्येय को जानने के लिए वे बहुत गहरे उतरते थे। वे जानना चाहते थे कि जो कार्यकर्त्ता उनके सम्पर्क में आ रहा है उसकी तैयारी साथ देने में कहाँ तक है। किसी प्रकार के संकट, प्रलोभन में वह डिग तो नहीं जायगा। उनके निकट तो व्यापारिक, राजनैतिक और रचनात्मक प्रवृत्तिवाले कई कार्यकर्त्ता रहते थे। जो उनकी परीक्षा में खरा उतर जाता उसे वे जिम्मेवारी सौंप देते थे। मैंने ऐसे भी कई व्यक्ति देखे हैं जो किसी एक गुण में महान् हैं, पर सम्पूर्ण जीवन की दृष्टि से उनका विकास एकांगी ही हो पाया है। लेकिन जमनालालजी का विकास एकांगी नहीं, सर्वाङ्गी हुआ था। इस कारण जिस क्षेत्र में उन्होंने प्रवेश किया, अपनी व्यवहार-बुद्धि से उसमें वे सफल ही हुए।

पं० हरिभाऊजी उपाध्याय का नाम तो तुमने सुना ही है। वे राजस्थान में गांधी विचारधारा के प्रमुख और पुराने कार्यकर्त्ता हैं। वर्षोंतक वे गांधीजी का सान्निध्य प्राप्त कर चुके हैं। हिन्दी के गण्यमान्य लेखकों और विचारकों में उनका स्थान है। उन्होंने अपनी आत्मकथा 'साधना के पथ पर' में जमनालालजी के सम्पर्क में आने की घटनाएँ लिखी हैं। घटनाएँ इस प्रकार हैं :

"बंबई की यह पहली यात्रा थी। बुखार आने लग गया था सो कुनैन का इञ्जैक्शन लेकर रवाना हुआ। मणि-भवन में पहुंचा तो

देवदास भाई मिले। उन्होंने कहा—'आपका खत खुद बापूजी ने पढ़ा है। उत्तर हिंदुस्तान वालों की लिखावट बड़ी खराब होती है। बापूजी से पढ़ी नहीं जाती। लेकिन आपका खत बड़ा अच्छा था, बापू पर अच्छा असर पड़ा है।' जमनालालजी भी वहीं थे। बापू से थोड़ी-बहुत बातचीत हुई व उन्होंने मुझे जमनालालजी के हवाले कर दिया। मैंने वर्धा की बजाय साबरमती में रहकर पत्र निकालना मंजूर किया। जमनालालजी का झुकाव यों वर्धा की तरफ था; परन्तु 'यंग-इण्डिया' व 'नवजीवन' के साथ ही 'हिंदी-नवजीवन' का अहमदाबाद से निकालना ही उन्हें सुविधाजनक प्रतीत हुआ।

जमनालालजी आदमियों के बड़े कड़े परीक्षक थे। मैंने परिचय पत्र उन्हें दे दिये। वैसे तो उन्हें मेरे रङ्ग-ढङ्ग से संतोष हुआ; परन्तु अभी मेरी जांच-पड़ताल बाकी थी। मैं ठहरा छुई-मुई तबियत का, वे थे भयङ्कर स्पष्टवक्ता व कड़ाई-पसन्द। सवालों की झड़ी लगा दी—घर में कितने प्राणी हैं? खर्च कितना है? कहाँ-कहाँ काम किया है? वहाँ से काम छोड़ा क्यों? स्वास्थ्य खराब क्यों रहता है? कबसे रहता है? इतना खोद-खोदकर पूछने लगे कि मैं मन में झुंझलाया—महात्माजी ने किस जल्लाद आदमी से मुझे भिड़ा दिया है। मालूम होता है, इन्हें मेरी बातों पर भरोसा ही नहीं हो रह है तभी तो इतने बारीक सवाल करते हैं। लेकिन मैं धीरज रखकर, सब के जवाब देता चला गया। अन्त में उन्होंने पूछा—'आपका स्वास्थ्य ऐसा खराब रहता है। ८-१० प्राणियों के निर्वाह का बोझ

आप पर है। इधर महात्माजी के कामों में पड़ने से तो कभी भी जेल में जाना पड़ सकता है, इसका भी कुछ सोच लिया है!'

"महात्माजी को पत्र लिखने से पहले ही सोच लिया था। क्या इतनी मोटी बात भी न सोचता!"

'तो क्या सोचा है? जेल चले गये तो घरवालों की गुजर कैसे होगी?'

'कैसे होगी—जैसे भगवान् करावेगा वैसे होगी। जब तक मैं आजाद हूं, जिन्दा हूं और बीमारी से बिछौने पर पड़ नहीं गया हूं तब तक मेरा धर्म है कि पहले घर वालों को खिलाऊं, फिर मैं खाऊं। जिस दिन मैं जेल चला गया, मर गया या बीमारी से बिछौने पर पड़ गया उस दिन उनका भगवान् मालिक। मेरे मर जाने पर जो उनका होगा वही जेल जाने पर हो जायगा। कोई खैर-खबर लेने वाला न हुआ तो ५२ लाख भिखमंगों में ८-१० की संख्या और बढ़ जायगी। इससे अधिक क्या होगा? वह दिन मेरी सच्ची परीक्षा का होगा। जेल में यदि मैं सुनूँगा कि मेरे परिवार के लोग भीख मांग रहे हैं तो मैं इसे 'स्वराज्य' के लिए अपना सम्पूर्ण त्याग समझकर हर्ष से फूला न समाऊँगा। इससे अधिक तो मैंने और कुछ नहीं सोचा है।'

जमनालालजी शायद ऐसे उत्तर के लिए तैयार न थे। वे बहुत प्रभावित हुए। सहानुभूति के स्वर में बोले—'नहीं, आखिर जो देश के लिए कष्ट सहते हैं, उनके परिवार वालों की चिन्ता करने वाले लोग भी होते हैं। आपको कोई चिंता नहीं रखनी चाहिए।

मैंने तो यह देखने के लिए यह प्रश्न किया था कि आपकी कितनी तैयारी है। आपके उत्तर से मुझे बहुत सन्तोष हुआ।'

इसी अवसर पर जमनालालजी की कड़ाई के एक-दो प्रसङ्ग और याद आ रहे हैं। मैं सत्याग्रहाश्रम साबरमती में सपरिवार रहने लगा था। जमनालालजी ने भी अपने रहने के लिए एक अलग बंगला बनवाया। उनका स्वभाव ही था कि जिसे अपनाते सच्चे हृदय से अपनाते। 'हिन्दी नवजीवन' की अन्तिम जिम्मेदारी उन्हीं पर रखी गई थी, अतः मुझसे व मेरे परिवार से उन्होंने बड़ी जल्दी घनिष्ठता स्थापित कर ली। मैं सङ्कोची हूँ—फालतू जान-पहचान बढ़ाने की आदत नहीं है। काम-काज के सिलसिले में जितना परिचय हो जाय उतना ही काफी समझता हूँ। पर जमनालालजी का प्रेम आक्रमक था। इस घनिष्ठता के भरोसे मैं एक प्रस्ताव लेकर उनके पास पहुँचा। धार (मालवा) में एक मालवीय भवन-बोर्डिङ्ग हाउस था। उसके व्यवस्थापक बंबई में चन्दा करने गये हुए थे। वहाँ से उन्होंने मुझे लिखा कि यहाँ के लोग कहते हैं कि यदि जमनालालजी पहले चन्दा लिख दें तो यहाँ अच्छी रकम मिल सकती है। आप उनसे सहायता लिखवा लें तो हमारा काम आसान हो जाय।'

मैंने मन में सोचा यह बहुत मामूली बात है। जमनालालजी अच्छे कामों में सहायता दिया ही करते हैं। मैंने इसी तरह सीधा प्रस्ताव उनके सामने रख दिया। मुझे याद पड़ता है, उस दिन

देवदासभाई भी किसी काम से उनके पास गए या बैठे हुए थे।
जमनालालजी बोले—'मैं बिना जान-पहचान के किसी को चन्दा नहीं देता।' मेरे सिर पर मानो पत्थर गिर पड़ा। तो भी मैंने ज़ब्त करके कहा—

'लेकिन मैं इन्हें जानता हूं।'

'आपने खुद इनका काम देखा है?'

'हां मैं खुद धार गया था—इनकी संस्था में भी हो आया हूं।'

'किंतु मेरे सन्तोष के लिए इतना काफी नहीं है। जब तक मैं खुद नहीं देख लेता तब तक मैं कहीं चन्दा या सहायता नहीं दिया करता।'

मैंने बड़ा साहस करके कहा—'तो आप खुद न दीजिए, दूसरों से दिला दीजिए।'

'वाह, ऐसा कैसे हो सकता है? जिस काम में मैं खुद न दूँ उसमें दूसरों को देने की कैसे प्रेरणा कर सकता हूँ। यदि काम अच्छा है तो मुझे खुद क्यों न देना चाहिए?'

'पर काम तो अच्छा है, मैं जानता हूँ।'

'लेकिन मैंने तो नहीं देखा है।'

सारी बातचीत में काफी बेरुखी उन्होंने दिखलाई। मुझे बहुत बुरा लगा। उनके स्वभाव का यह पहलू मेरे लिए बिलकुल नया था। जीवन में किसी से कुछ सहायता मांगने या दिलाने का यह पहला ही अवसर मुझे था। मैं बड़े आत्म-विश्वास से

उनके पास गया था। वह सब चूर-चूर हो गया। देवदासभाई के सामने मैंने अपने को बहुत लज्जित व अपमानित भी अनुभव किया। पछताने लगा कि ऐसे बे रुखे आदमी के पास जाकर नाहक ही अपनी बात गँवाई। बड़ी बेवकूफी की। मेरे जी में दो-तीन घण्टे तक उथल-पुथल मचती रही। अन्त को मैंने उन्हें एक खत लिखा, तब शांति हुई।

मैंने लिखा—"जीवन में यह पहली बार मुझसे बेवकूफी हुई है,—आपके स्वभाव व तौर-तरीके से परिचित नहीं था, इसीसे यह गल्ती हुई। आप विश्वास रखें, जिन्दगी में अब आप के पास ऐसी धृष्टता नहीं करूँगा। इस बार जो आपको कष्ट दिया उसके लिए क्षमा चाहता हूँ।"

पत्र पाते ही वे मेरे घर दौड़े आये। तरह-तरह से मुझे समझाते व ऐसे मामलों के अपने कटु अनुभव व ऊँच-नीच बताते रहे। तुमको 'अपना' समझता हूँ, इसीलिए इतनी बे-रुखी से पेश आया। बापू के यहाँ भी कुछ ऐसी बातचीत हो गई थी, जिससे मेरा चित्त स्वस्थ नहीं था। दो घण्टे तक मुझसे व मेरी माताजी से बातचीत करते रहे व खुद ही माताजी से मेरे यहाँ भोजन करने का प्रस्ताव रख के अपने घर गये। चलकर भोजन करने का प्रस्ताव रख जाना—यह उनकी आत्मीयता की पराकाष्ठा थी। एक ही दिन में उनके दो सिरे के परस्पर विरुद्ध स्वभावों का यह परिचय मेरे लिये और भी कुतूहल का विषय था। इस में उनकी महानता छिपी हुई थी। अहिंसा का यह पदार्थ-पाठ ही उन्होंने मुझे दिया।

उन्होंने शायद यह महसूस किया कि उनका व्यवहार मुझे बहुत नागवार लगा। इसका कितना बड़ा परिशोधन !

ऊपर से कठोरता और भीतर से सहृदयता का एक और संस्मरण यहाँ लिख देता हूँ। नागपुर-झण्डा-सत्याग्रह के समय की बात है। जमनालालजी उसके 'लीडर' की हैसियत से गिरफ्तार हो चुके थे झंडा-सत्याग्रह को बल देने के लिए ए० आई० सी० सी० (महा-समिति) की मीटिंग नागपुर में हुई थी। उस समय अजमेर-प्रांत की ओर से मैं उसका सदस्य था और उसमें जाने की बड़ी उत्सुकता थी। पर खर्च कहाँ से लावें ? जो वेतन मैं लेता था वह घर-खर्च पुरता था। उसमें लम्बे सफर की गुंजायश नहीं निकल सकती थी। मैंने सोचा कि आगे-पीछे जमनालालजी से कुछ व्यवस्था कर लेंगे, अभी तो दफ्तर से पेशगी ले लो। जमनालालजी से नागपुर जेल में मिला तो उन्होंने प्रश्न किया—यहाँ तक आने के खर्च का क्या इन्तजाम किया ? मैंने सरल भाव से कह दिया—'अभी तो दफ्तर से पेशगी ले आया हूँ, यही सोचा था कि आगे-पीछे आप से प्रबन्ध करा लूँगा।'

उन्हें मेरी यह पद्धति ठीक न मालूम हुई। जरा झल्लाकर बोले—'आपने जब पहले मुझ से पूछ नहीं लिया है तो इस तरह मेरे भरोसे पेशगी लेना उचित न था। आप ही कहिये, यह वाजिब हुआ ?'

यह दूसरा वज्र-प्रहार मुझ पर हुआ। मैं शरम से बिलकुल गड़ गया। मन में सोचा, नाहक ही इनसे इतनी आशा की,

जो इतनी बात सुनने की नौबत आई। परन्तु उनका एतराज ठीक था; अतः कहा—

'वाजिब तो नहीं था, पर आप इसकी चिन्ता न करें, मैं कोई-न-कोई दूसरा प्रबंध कर लूंगा।'

वे कुछ बोले नहीं। मैं चला आया। मेरे बाद ही स्वामी आनन्द उनसे मिले। वे नवजीवन-संस्था के जनरल मैनेजर थे। जब महीना अखीर हुआ व वेतन का समय आया तो स्वामीजी ने मुझे वेतन के पूरे रुपये दिये। मैंने पेशगी रकम कटाने का सवाल पेश किया तो बोले—मुझे नागपुर जेल में जमनालालजी ने नोट करा दिया था कि वह रकम उनके नामे मांड दी जाय। मैंने कहा—इसकी जरूरत नहीं है, आप इसमें से काट लीजिए। उन्होंने कहा—जमनालालजी की हिदायत के खिलाफ मैं नहीं जा सकता। मेरा हृदय जमनालालजी की उच्च हृदयता के सामने झुक गया। उन्होंने मुझे नसीहत भी दी, फिर सहारा भी दिया। वे कोरे उपदेशक न थे।

एक और प्रसङ्ग भी लिख दूं। ग्वालियर राज्य के भूतपूर्व होम मेम्बर (स्वर्गीय) खाशेराव पवाँर ने मुझे जरूरी में बुलाया। जब वे देवास (छोटी पांती) के प्रधान मन्त्री थे तभी (१९१४-१५ ईसवी) सरवटे साहब ने उनसे मेरा परिचय करा दिया था। मैं खर्च के लिए दफ्तर से पेशगी लेकर चला गया—खयाल तो यही किया था कि खाशे साहब खर्च की व्यवस्था करेंगे। वे चाहते थे कि पूना में शिवाजी महाराज या शायद माधव महाराज (ग्वालियर के भूतपूर्व महाराजा) के पुतले का अनावरण महात्माजी के हाथों हो और

उसमें वे मेरी सहायता चाहते थे। बात-चीत के उपरान्त मैं साबरमती लौटा तो प्रसङ्ग से जमनालालजी ने पूछा—कहाँ गये थे? मैंने किस्सा सुना दिया। बोले—खर्च का क्या इन्तजाम किया था।

मैंने झेंपते हुए कहा—'सोचा था कि वे दे देंगे; पर उन्होंने इस विषय में कुछ पूछा ही नहीं। सम्भव है, बहुत छोटी बात समझकर उन्होंने कुछ ध्यान न दिया हो। मुझे भी खुद कहने में सङ्कोच हुआ।'

'मुझे ऐसी ही आशङ्का थी, इसलिए मैंने यह चर्चा चलाई। जो बुलाता है उसका फर्ज है कि वह खर्चे का इन्तजाम करे। लेकिन लोग अक्सर अपनी इस जिम्मेदारी को नहीं समझते। आप सार्वजनिक कार्यकर्त्ता हैं। फिर खर्च पुरता ही वेतन लेते हैं। आप जैसों को क्यों संकोच करना चाहिए? या तो पहले ही खर्च मंगा लेना चाहिए, या तय करा लेना चाहिए अथवा बाद में भी मांग लेने में क्यों झिझकना चाहिए?'

'पहली दो बातें तो ठीक हैं; पर पिछली तो मुझ से इस जन्म में नहीं हो सकती।'

अब भी जब कभी मैं विचार करता हूँ तो बुद्धि तो यही जवाब देती है कि सार्वजनिक सेवक को अपनी आवश्यकता भर मांग लेने में सङ्कोच या झिझक न होनी चाहिए। झिझक या लज्जा का कारण उनके अन्दर रहा सूक्ष्म अहंकार ही मालूम होता है। *स्वाभिमान व अहंकार में बड़ी सूक्ष्म विभाजक रेखा है।* सामने

वाला जब हम से अनुचित व्यवहार करता या करना चाहता हो तब जो विरोध का भाव मन में पैदा होता है वह स्वाभिमान है; अपनी खुशी से उपयोगी व धर्म समझकर जो व्यवहार किया जाता है उसमें यदि लज्जा या अपमान का अनुभव हो तो वह अहंकार का चिह्न है।"

इस प्रकार तुम देखोगे कि वे कार्यकर्त्ता को पूरी तरह कसौटी पर कस लिया करते थे। किस कार्य के लिए कैसे कार्यकर्त्ता की नियुक्ति की जाय और उसके समस्त परिणामों को स्वीकार करने के लिए कौन तैयार होगा, यह ऊपर के उदाहरण से भली प्रकार विदित हो जाता है। इस प्रकार विवेक और योग्यतापूर्ण नियुक्तियों के कारण न केवल जमनालालजी ही सफल हुए, बल्कि उन कार्यकर्त्ताओं के हाथों से भी देश के बड़े-बड़े कार्य हुए हैं। जमनालालजी की मृत्यु के उपरांत स्वयं बापू ने ता. १६ फरवरी '४२ के हरिजन में लिखा था कि 'कार्यकर्त्ताओं को लाना इन्हीं का काम था।' उनमें कार्यकर्त्ताओं के चुनाव, संग्रह, निर्माण और उनसे कार्य लेने की प्रबल शक्ति थी। बापूजी के लिए भी योग्य कार्यकर्त्ताओं का चुनाव वे ही करते थे। इस तरह उन्होंने आन्तरिक दृष्टि से देश का बड़ा कल्याण किया है। क्योंकि, जैसा मैं पहिले लिख आया हूँ कि कार्यकर्त्ताओं के बिना आदर्श और उद्देश्य की सिद्धि अत्यन्त कठिन है।

राष्ट्र-निर्माण में कार्यकर्त्ताओं का बहुत महत्त्व है। उनके बिना, उनकी प्रामाणिकता के बिना बड़ी से बड़ी योजना भी नष्ट

हो सकती है। यह जमनालालजी की महत्ता थी कि देश के कोने-कोने में से शोध कर वे कार्यकर्त्ताओं को लाते थे और उन्हें देश-सेवा के पुनीत यज्ञ में सम्मिलित करते थे। लेकिन अब उनका अभाव खटक रहा है हमारे यहाँ त्यागी और कर्मठ नेता जरूर हैं लेकिन उनको भी योग्य कार्यकर्त्ताओं की कमी खटक रही है। यह काम जमनालालजी ही कुशलतापूर्वक कर सकते थे। फिर बापू भी हमारे बीच से उठ गये। तब से तो देश को यह कमी बहुत ही अखरने लगी।

जमनालालजी वस्तुतः तत्त्वनिष्ठ, व्यवहारी और परीक्षक थे। कई अंशों में तो वे बापू से भी कड़े परीक्षक थे। वे कहा करते थे कि जिस तरह दूसरों को ठगना बुराई है उसी तरह स्वयं ठगा जाना भी एक प्रकार की कमजोरी है। ऐसे बहुत कम अवसर आये होंगे कि जमनालालजी के सम्पर्क और स्नेह का अनुचित लाभ उठाया गया हो या उन्हें ठग लिया गया हो।

: ५ :

निर्लोभ वृत्ति

प्रिय ईश्वर,

अबतक के पत्रों में उनके जिन गुणों का जिक्र आया है, वे व्यापार को प्रामाणिक, उन्नत और प्रभावशाली बनानेवाले हैं। उन गुणों की सहायता से जमनालालजी ने व्यापार में लाखों रुपया कमाया। रुपया एक ऐसी वस्तु है जिसका आकर्षण और मोह मनुष्य को प्रायः अविवेकी, अहंकारी और स्वार्थी बना देता है। रुपयों के चक्कर में पड़ा आदमी अक्सर भूल जाया करता है कि उसके अतिरिक्त समाज और देश में दूसरे भी सुख-सुविधाओं की अपेक्षा रखते हैं और जिस समाज और क्षेत्र में वह रहता है, उसके प्रति भी उसका उत्तरदायित्व है। लोभ में फंसा क्या क्या नहीं कर सकता ? इसीलिए जीवन-दर्शी अनुभवी सन्तों और महापुरुषों ने लोभ को अत्यन्त बुरा कहा है। महावीर स्वामी ने भी कहा है :

> *"कोहो पाई पणासेइ, माणो विणयनासणो।*
> *माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥"*
>
> *—दश० अ० ८ गा० ३८*

अर्थात् क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का और माया मित्रता का नाश करती है; किन्तु लोभ तो सभी सद्गुणों का नाश कर देता है। एक हिन्दी कवि ने भी लोभ को पाप का बाप बताया है। पाप तो अपने आप में बुरी बात है ही, किन्तु लोभ तो

उसका भी पिता है। धनिकों की लोभ-वृत्ति को देखकर ही ईसा ने कहा था कि "सूई के छेद में से कदाचित् ऊँट तो निकल भी सकता है, किन्तु धनवान् परमात्मा के द्वार में से पार नहीं हो सकता। शुरू-शुरू में तो धन-प्राप्ति से आनन्दित होकर मनुष्य मानने लगता है कि धन उसके सुख-विलास का साधन है, उसकी प्रतिष्ठा का प्रतीक है, लेकिन ज्यों ज्यों तृष्णा बढ़ती जाती है त्यों त्यों वह अपनी नैतिकता और कर्त्तव्य-भावना को भूलता जाता है और जैसे बने तैसे धन संग्रह करता जाता है। इस प्रक्रिया या प्रवृत्ति में वह अपने सन्तोष, शांति, नियमितता और विचार-शक्ति को भी खो देता है जिससे निरंतर अशान्ति ही अशांति छाई रहती है।

लोभी की वृत्ति का चित्र, एक कवि ने मक्खी के उदाहरण से खींचा है। वह कहता है :

मक्खी बैठी शहद पर, पंख लिये लिपटाय।
हाथ मलै अरु सिर धुनै, लालच बुरी बलाय॥

इससे तुम जान सकते हो कि अधिक धन-संग्रह और लोभ मनुष्य-जीवन के विकास में बाधा रूप ही है।

जमनालालजी ने इस तथ्य को समझ लिया था। उन्होंने धन कमाया और खूब कमाया, लेकिन उससे चिपके नहीं रहे—उसके प्रति उदासीन या निस्पृह ही बने रहे। उन्होंने समझ लिया था कि धन उनके लिए है, वे धनके लिए नहीं हैं। धनके अधीन वे नहीं हुए। धन के प्रति यह अनासक्त वृत्ति उनमें बचपन से ही थी।

वृत्ति का निर्माण एकाएक कभी नहीं होता। संस्कार, संगति और वातावरण से ही मनुष्य की वृत्तियाँ बनती-बिगड़ती हैं। बाल्यकाल में जिस वृत्ति का बीज पड़ जाता है, वह अनुकूल वातावरण के अभाव में या तो नष्ट हो जाता है या फिर बढ़ता भी जाता है। जमनालालजी की यह अनासक्त वृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई।

उनकी उम्र १७ वर्ष की थी। वर्धा में वे दत्तक आ चुके थे। उस समय हिंगणघाट में सेठ बंसीलाल अबीरचंद के यहां कोई विवाह था। बच्छराजजी ने जमनालालजी को उस विवाह में जाने के लिए कहा। उस समय ऐसे अवसरों पर गहने आदि पहनने का रिवाज था। जो जितने अधिक जेवर पहिनता या पहिनाता वह उतना ही प्रतिष्ठित और धनिक समझा जाता था। बच्छराजजी ने मुनीम से कहा कि जमन को कंठा आदि पहनाकर साथ ले जायँ। पर जमनालालजी को जेवरों से रुचि नहीं थी। विचारकों और सन्तों की संगति से वे मानने लगे थे कि बडप्पन सोने चांदी के जेवरों में नहीं, गुणों में रहता है। इसलिए वे बिना जेवर पहने ही जाने को तैयार हुए। बच्छराजजी को जमनालालजी का ऐसा जाना अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल जँचा। उन्होंने मुनीम को डांटा कि जेवर क्यों नहीं पहनाए गए?

इस पर स्वयं जमनालालजी ने कहा कि "मैं ही जेवर नहीं पहनना चाहता।"

'क्यों?' बच्छराजजी ने पूछा।

जमनालालजी ने कहा : "दादाजी, जेवर पहनने से ही कोई बड़ा थोड़े बनता है! आदमी गुणों से ही बड़ा कहलाता है!"

किसी भी बड़े-बूढ़े के लिए यह अपमान की बात हो जाती है कि उसको ही कोई बालक उपदेश की बात कह दे। बच्छराजजी को जमनालालजी की यह बात सुनकर क्रोध आ गया। आवेश में आकर वे जमनालालजी को गालियाँ देने लगे। उन्होंने कहा :

"बड़ा आया है मुझको सिखाने। गुण की बातें करता है। जानता नहीं पैसे से ही सब बातें होती हैं। तू भी तो पैसे के लिए ही गोद आया है और इसी कारण तो बड़ा बना फिरता है। वरना मालूम पड़ जाय दाल-आटे का भाव।"

जमनालालजी इसे बर्दाश्त नहीं कर सके। निर्लोभवृत्ति तो उनमें थी ही, फिर उन्होंने गुणों की बात सहज ढंग से सरल भाव कही थी। वे स्वाभिमानी और तेजस्वी थे। उसी समय उन्होंने बच्छराजजी को एक लम्बा पत्र लिखा और सारे जेवर आदि उतारकर केवल शरीर पर धारण किए कपड़ों से ही चुपके से निकल पड़े। उनकी वृत्ति का परिचय, यह पत्र अपने आप दे रहा है। पत्र इस प्रकार है :

॥ श्री गणेशजी ॥

सिद्ध श्री वर्धा शुभस्थान पूज्य श्री बच्छराजजी रामधनदास सूं लिखी चि० जमनालाल का पांवांधोक बांचीज्यो। अठे उठे श्री लक्ष्मीनारायणजी महाराज सदा सहाय छे। अपरंच समाचार एक बांचीज्यो। आपकी तबियत आज दिन हमारे ऊपर निहायत नाराज

हो गई सो कुछ हरकत नहीं। श्री ठाकुरजी की मरजी और गोद का लियोडा था जब आप इस तरह कहयो। सो आपको कुछ कसुर नहीं, जिको हमाने गोद दियो जिनको कसुर छे। बाकी आप कह्यो कि तुम नालीस करो सो ठीक। वाकी हमारो आपके ऊपर कुछ कर्जो छे नहीं। आपको कमायेडो पीसो छे। आपकी खुसी आवे सो करो। हमारो कुछ आप ऊपर अधिकार छे नहीं। हमां आपसूं आज मिती ताईं तो हमारे बारे में अथवा जो हमारे ताईं जो खर्च हुयो सो हुयो, बाकी आज दिन सूं आप कने सूं एक छदाम कोड़ी हमां लेवांगा नहीं, अथवा मंगावांगा नहीं। आप आपके मन मां कोई रीत का विचार करज्यो मत ना। आपकी तरफ हमारो कोई रीत को हक आज दिन सूं रहयो छे नहीं और श्री लक्ष्मीनारायण सूं अर्ज ये है कि आपको शरीर ठीक राखे और आपने हाल बीस पच्चीस बरस तक कायम राखे। और हमां जठे जावांगा, बठे सूं थाके ताईं इस माफक ठाकुरजी सूं विनंति करांगा। और म्हारे सूं जो कुछ कसूर आज ताईं हुयो सो सब माफ करजो। और आपके मन में हो कि सब पीसा का साथी है, पीसा का ताईं सेवा करे छे, सो हमारे मनमां तो आपके पीसा की बिल्कुल छे नहीं। और भी ठाकुरजी करेगा तो आपके पीसे की हमारे मन में आगे भी आवेगी नहीं। कारण हमारो तगदीर हमारे साथ छे। और पीसो हमारे पास होकर हमां कांई करांगा। म्हाने तो पीसा नजीक रहने की बिलकुल परवा छे नहीं। आपकी दया से श्री ठाकुरजी का भजन, सुमिरन जो कुछ होवेगा सो करांगा। सो इस जनम मांही भी सुख पावांगा और

अगला जनम मांही भी सुख पावांगा। और आप आपके चित्त मां प्रसन्नता रखियो। कोई रीत को फिकर करजो मत ना। सब झूठा नाता छे। कोई कोई को पोतो नहीं। और कोई कोई को दादो नहीं। सब आप आप का सुख का साथी छे। सब झूठो पसारो छे। आप हाल ताईं मायाजाल मां ही फंस रह्या छो। हमां आज दिन आपके उपदेश सूं मायाजाल सूं छूट गया छां। आगे श्री भगवान संसार सुं बचावेगा। और आपके मनमां इस तरह बिलकुल समझो मत ना कि हमारे ऊपर नालिस फरियाद करेगो। हमां हमारे राजी खुशी सूं टिकिट लगाकर सही कर दीनी छे कि आपके ऊपर अथवा आपकी स्टेट, पीसा, रुपया, गहना, गांठी और कोई भी सामान ऊपर आज से बिलकुल हक रह्यो नहीं सो जाणज्यो। और हमारे हाथ को कोई को करजो छे नहीं। कोई ने भी एक भी पीसो;

पत्र का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है :—

॥ श्री गणेशजी ॥

सिद्ध श्री वर्धा शुभस्थान पूज्य श्री बच्छराजजी रामधनदास से चि० जमन का चरण-स्पर्श। सर्वत्र श्री लक्ष्मीनारायणजी महाराज सदा सहाय हैं। समाचार एक निगाह करें। आप आज मुझपर निहायत नाराज हो गए सो कोई चिन्ता नहीं। श्री ठाकुरजी की मर्जी। मैं गोद लिया हुआ था तब आपने ऐसा कहा। पर आपका कुछ भी कसूर नहीं है। कसूर है उनका, जिन्होंने मुझे गोद दिया।

आपने कहा, नालिश करो, सो ठीक। पर मेरा आप पर कोई कर्ज तो नहीं है। आपका कमाया हुआ पैसा है। आपकी खुशी हो सो करें। मेरा आप पर कुछ अधिकार नहीं।

आज तक मेरे बाबत या मेरे लिए जो कुछ आपका खर्च हुआ सो हुआ। आज के बाद आपसे एक छदाम कौड़ी भी मैं लूंगा नहीं और न मंगाऊँगा ही। आप अपने मन में किसी किस्म का खयाल न करें।

देनो छे नहीं सो जाणज्यो। और तो समाचार छे नहीं। और समाचार तो बहुत छे, परन्तु हमारे से लिख्यो जावे नहीं।

सम्वत् १९६४ मिती बैसाख बदी २, मंगलवार पूज्य श्री १०५ दादाजी श्री बच्छराजजी सूं जमन का पांवाधोक बांचीज्यो।

घणे घणे मान सेती आपकी तरफ हमारो कोई रीत को लेन-देन रह्यो नहीं। श्री ठाकुरजी के मन्दिर को काम बराबर चलाज्यो और आपसूं दान धरम बने सो खूब करता जाइयो और ब्राह्मण साधु ने गाळी बिलकुल दीजो मतना और कोई ने भी हाथ को उत्तर देईजो, मुंह को उत्तर दीजो मतना। ज्यादां कांई लिखां। इतना मां

आपकी तरफ आजसे मेरा किसी तरह का हक नहीं रहा है। श्री लक्ष्मी नारायणजी से मेरी अर्ज है कि आपका शरीर ठीक रखें और आपको अभी बीस-पचीस वर्ष तक कायम रखें। मैं जहां जाऊँगा, वहीं से आपके लिए ठाकुरजी से इस प्रकार विनति करता रहूंगा। मुझसे आजतक जो कुछ कसूर हुआ वह माफ करें।

आपके मनमें यह हो कि सब पैसों के साथी हैं, और यह भी पैसे के लिए सेवा करता है, सो मेरे मनमें तो आपके पैसे की चाह बिलकुल नहीं है। और ठाकुरजी करेंगे तो आपके पैसे की भविष्य में भी मनमें आएगी नहीं। क्योंकि मेरी तकदीर मेरे साथ है। और पैसे मेरे पास हों भी तो मैं क्या करूंगा? मुझे तो पैसों के नजदीक रहने की बिलकुल परवा नहीं है। आपकी दयासे श्री ठाकुरजी का भजन-सुमरन जो कुछ होगा सो करूंगा, जिससे इस जन्म में सुख पाऊं और अगले जन्म में भी। आप प्रसन्नचित्त रहें। किसी किस्म की फिक्र न करें। सब झूठे नाते हैं। न कोई किसी का पोता है, न कोई किसी का दादा। सब अपने-अपने सुख के साथी हैं। सब झूठा पसारा है। आप अभी तक मायाजाल में फंस रहे हैं। मैं आज आपके उपदेश से मायाजाल से छूट गया। आगे श्री भगवान संसार से बचावें।

हीं समझ लीजो। और हमां आपकी चीजां साथे ल्यांगा नहीं। सो सर्व अठेई आपके छोड गया छां। खाली अंग ऊपर कपडा पहर्यांछां।

जमनालालजी के अनेक गुण हैं, जो उनकी कीर्ति को स्थायी रखेंगे। पर यदि जमनालालजी में अनेक गुण न भी होते, तो उनका यह अकेला पत्र भी उनके यश को अमर बनाए रखने के लिए काफी था। कितने माई के लाल होंगे, जो घर-आई लक्ष्मी से मुंह मोडकर बिना किसी विषाद या उद्वेग के इस तरह धनसे भरे घर को लात मार दें?

जमनालालजी का यह पत्र अवश्य ही कल्याण मार्ग के पथिकों के लिए अँधेरे की ज्योति है। या तो यह चिट्ठी "ताप-तिमिर तरुण तरणि किरण मालिका" है।

अपने मनमें आप इस तरह कदापि न समझें कि हमारे पर नालिश-फरियाद करेगा। मैंने अपनी राजी-खुशी से टिकिट लगाकर सही कर दी है कि आप पर अथवा आपकी स्टेट, पैसे, रुपये, गहना-गांठी आदि किसी सामानपर आज से मेरा कतई हक नहीं रहा है। और मेरे हाथ का न कोई कर्ज बाकी है। किसी का एक पैसा भी देना नहीं है।

अन्य समाचार कुछ है नहीं। समाचार तो बहुत हैं, पर मेरे से लिखे नहीं जाते। संवत् १९६४ मिती वैशाख कृष्णा २, मंगलवार।

पूज्य श्री १०५ दादाजी श्री बच्छराजजी से जमन का चरणस्पर्श।

बहुत बहुत सम्मान से। आपकी तरफ मेरा कोई रीत का लेन-देन नहीं रहा है। श्री ठाकुरजी के मन्दिर का काम बराबर चलावें। आपसे दान-धर्म जो बने सो खूब करते जावें। ब्राह्मण साधु को गाली बिलकुल न दें। और किसी को भी हाथ का उत्तर दें, मुंह का उत्तर नहीं। ज्यादा क्या लिखूं? इतने में ही समझ लें।

और मैं आपकी कोई चीज साथ नहीं लूंगा। सब यहीं छोड जाता हूं। सिर्फ अंगपर कपड़े पहने हूं।

बच्छराजजी क्रोधी स्वभाव के थे और इसीलिए गुस्से में आपा भूलकर आवेश में चाहे जैसा बोल बैठते थे। गुस्सा उतरने पर तो वे शांत हो जाते थे। हृदय उनका बड़ा साफ था और जमनालालजी पर प्रेम भी कम नहीं था। उन्हें कल्पना नहीं थी कि जमनालालजी इस हद तक पहुँच जावेंगे। जमनालालजी का पत्र पढ़कर वे पानी-पानी हो गए। अपने क्रोध और कटु वचनों पर वे पछताने लगे। फिर तो उन्होंने जमनालालजी को वापिस बुला लिया और मना लिया। वे क्रोध करते थे, पर प्रेम करना भी जानते थे। जमनालालजी ने वह पत्र त्याग-भाव से, सरलतापूर्वक लिखा था। वापिस लौटने और अपने हक को प्राप्त करने की किंचित् भी परवाह या अपेक्षा उन्होंने नहीं की थी। जमनालालजी की सहज अनासक्तवृत्ति ने बच्छराजजी को पानी-पानी कर दिया।

ज्यों ज्यों उनका आत्म-विकास होता गया त्यों त्यों उनमें निर्लोभवृत्ति और धन की अनासक्ति बढ़ती ही गई। वे धन को भोग की वस्तु नहीं, सेवा का साधन मानते थे। गांधीजी की आदर्श ट्रस्टीशिप की कल्पना को अपनाकर वे सचमुच गांधीविचार-धारा के आदर्श धनवान् बन गए थे।

जमनालालजी की धन के प्रति अनासक्ति के विषय में बिड़लाजी ने बहुत अच्छा लिखा है। श्री घनश्यामदासजी बिड़ला उनके निकटतम मित्रों में से हैं। इन्होंने उनकी संक्षिप्त जीवनी लिखी है जो अत्यन्त मार्मिक और प्राणवान् है। वह पढ़ने योग्य है। यहां मैं प्रसंगवश वही अंश दे रहा हूँ जिसमें जमनालालजी की निर्लोभवृत्ति पर प्रकाश डाला गया है। बिड़लाजी लिखते हैं :

"सबसे बड़ी चीज जो उनमें थी, वह था उनका धन के प्रति तिरस्कार। धन के प्रति जमनालालजी की उदासीनता थी, इसके माने यह नहीं कि जमनालालजी उड़ाऊ थे, ऐशोआराम में रहनेवाले थे या उनमें फिजूल खर्ची थी। जमनालालजी अपने शरीरसम्बन्धी खर्च में तो अत्यन्त कृपण थे। उनका रहन-सहन बहुत ही सादा और कम खर्चीला था। रसोईघर-खानपान की स्वादिष्ट सामग्रियों से शून्य। रहने का मकान धर्मशाला की एक कोठरी। यात्रा प्रायः तीसरे दरजे की गाड़ी से। उनकी मोटर—और वह उनकी क्या, जो उसपर चढ़ बैठे उसी की—एक बैल के खटारे से गई बीती। उनके वस्त्र खारी कुटकों से सुसज्जित। यह हाल था जमनालालजी की कृपणता का।

"सादगी में उन्हें जैसे शूर चढ़ता था। और केवल अपने लिए ही कम खर्च थे सो नहीं, अपने प्रेमी मित्रों पर भी—जहां तक उनके शारीरिक आराम का सम्बन्ध था—अपना यह कम खर्चीलापन लादने में उन्हें संकोच न होता था। मित्र उनका लाख मजाक करें, उनके रसोईघर की हजार आलोचना करें, पर वह टस से मस नहीं होते थे।

"किसी को अपने शरीर पर आवश्यकता से अधिक खर्च करने का अधिकार ही क्या है! इस मंत्र को उन्होंने यहां तक पचा डाला था कि वह इनकी एक ग्यारहवीं इन्द्रिय बन गया था। शारीरिक आराम और विश्राम सम्बन्धी इस हद दरजे की कृपणता के बीच उनका धन के प्रति निर्मोह और अद्भुत उदारता, यह दो

विधर्मों का एक अनोखा सम्मिश्रण था। पर इस समन्वय का भाष्य आसानी से किया जा सकता है। शारीरिक खर्च सम्बन्धी जमनालालजी की कृपणता इस बात की द्योतक थी कि जो ईश्वरने हमें दिया, उस निधि के हम महज संरक्षक हैं। उसको "स्व" भोगों के लिए नहीं, किन्तु "पर" के उत्थान के लिए ही हम व्यय कर सकते हैं। धन के प्रति उनकी उदासीनता इस बात की द्योतक थी कि धन अन्य साधनों की तरह परोपकार के लिए एक साधारण साधन मात्र है। उसके बिना आसानी से व्यवहार चल सकता है। जहाँ दैवी सम्पदा है, परोपकार वृत्ति है, वहां धन हो तो क्या, न हो तो क्या? दैवी सम्पदा ही प्रधान है, धन गौण साधन है। उनकी यह भावना उनके आत्म-विश्वास की निशानी थी। उनकी ईश्वर में अटूट श्रद्धा का यह चिन्ह था। उन्हें युधिष्ठिर के इस कथन का मर्म अच्छी तरह विदित था :

यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा,
यज्ञाय सृष्टः पुरुषो रक्षिता च।
तस्मात्सर्वं यज्ञ एवोपयोज्यं,
धनं न कामाय हितं प्रशस्तम् ॥

विधाता ने यज्ञ अर्थात् परोपकार के लिए धन पैदा किया और मनुष्य को उसका संरक्षक अर्थात् ट्रस्टी बनाया। इसलिए मनुष्य को अपना सारा धन परोपकार में लगाना चाहिए, न कि ऐहिक भोग-विलास में।

"जिस ट्रस्टीशिप की कल्पना गांधीजी ने आज धनिकों के सामने रखी है, उसी पद्धति का युधिष्ठिर ने भी आज से पाँच हजार साल पहले जिक्र किया था। जब मनुष्य-धन का एक रक्षक मात्र है और धन की सृष्टि परोपकार के लिए ही हुई है, तो मनुष्य उस धन का—पराये धन का—अपने भोग-विलास के लिए व्यय कर ही कैसे सकता है ! और करता है, तो अमानत में खयानत करता है—ऐसा युधिष्ठिर का कथन था। और यही आज गांधीजी का भी कथन है।

"जमनालालजी ने इस सूत्र को अपने व्यवहार में अपनाया। उसका अक्षरशः पालन किया। नतीजा यह हुआ कि जमनालालजी शारीरिक सुख सामग्रियों में कृपण होते हुए भी परोपकार के लिए बेहद उदार प्रकृति के पुरुष बन गए थे। लाखों का दान उन्होंने किया, यह भी तो सभी जानते ह। पर अपने मित्र के कष्ट में खुद फना हो जाने की उनकी प्रवृत्ति से सभी परिचित नहीं हैं। किसी मित्रपर कुछ आर्थिक कष्ट आया तो बस, स्वयं अपने आप उसे कह देते थे, "देखना, तुम्हें कष्ट न हो। मेरा जो कुछ है सो तुम्हारा ही है। इसमें कोई भेद न मानना।" ऐसा कहनेवाले शूरमा बहुत कम होते हैं।

"पर जितनी ही जमनालालजी ने धन के प्रति उदासीनता दिखाई, उतना ही लक्ष्मी ने उनका सत्कार किया।

"भागवत में समुद्र-मंथन की बड़ी रोचक कथा है। जब देवों और असुरों ने मिलकर अमृत के लिए समुद्र-मंथन किया तो पहले

पहल समुद्र में से विष निकला, जिसके कारण सारा संसार संत्रस्त हो उठा। संसार की व्याकुलता देखकर और लोगों के आग्रह पर उस हलाहल को भगवान शंकर पी गए और इस तरह प्रजा की रक्षा हुई। उसके बाद कामधेनु गाय निकली, फिर उच्चैःश्रवा घोड़ा निकला, फिर ऐरावत हाथी आया, कौस्तुभमणि निकली। पता नहीं यह कथा सृष्टि-रचना का क्रमबद्ध इतिहास तो नहीं है। क्या पृथ्वीपर पहले पहल विषैली हवा थी? शायद विष में उसी का संकेत हो। उसके बाद जब गाय, घोडे, हाथी इत्यादि की सृष्टि उत्पन्न हो चुकी और लोग उनका तथा धरती का ठीक उपयोग करने लगे, परिश्रम करने लगे, तो उसके फलस्वरूप कल्पवृक्ष तो निकलना ही था। परिश्रम रूपी कल्पवृक्ष से तो फिर जो चाहो सो मिलेगा।

"और जब परिश्रम होने लगा तो धन की वृद्धि तो होनी ही थी। किन्तु धन की प्रतीक लक्ष्मी ने अपने लिए स्वामी चुनने में जिस विवेक का परिचय दिया वह हरेक धनेच्छुक के लिए एक शिक्षाप्रद पाठ है। लक्ष्मी ने सोचा, मैं किसे वरण करूं! मुझे तो सर्वथा निर्दोष गुण शीलवाला वर चाहिए। दुर्वासा जैसे तपस्वी में क्रोध है, इसलिए वे मेरे योग्य नहीं। बृहस्पति ज्ञानी है, तो अनासक्त नहीं। ब्रह्मा महत्वशाली है, पर उसने कामपर विजय नहीं प्राप्त की। इन्द्र ऐश्वर्यशाली तो है, पर उसका ऐश्वर्य दूसरों के आश्रय पर है। परशुराम धार्मिक है, पर प्रेम से रहित है। शिवि में त्याग है, पर अन्य गुण उसमें नहीं। कार्तवीर्य वीर है, पर मृत्यु से त्रस्त है। सनकादि अनासक्त हैं, तो अकर्मण्य हैं। मार्कण्डेय की आयु लम्बी है, पर वह शील-रहित है। दूसरी ओर हिरण्यकशिपु जैसे

शीलवान् हैं, तो दीर्घायु नहीं। शंकर में सब गुण हैं, पर उनकी वेषभूषा मंगलमय नहीं। विष्णु में सब गुण हैं, पर उन्हें कहाँ लक्ष्मी की गरज पड़ी है ! विष्णु की इस निस्पृहता ने लक्ष्मी को आकर्षित किया और अन्त में उन्हीं के गले में उसने वरमाला डाली।

विलोकयन्ती निरवद्यामात्मनः
पदं ध्रुवं चाव्यभिचारि सद्गुणम्।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धचारण
त्रैविष्टपेयादिषु नान्वविन्दत ॥
नूनं तपो यस्य न मन्युनिर्जयो
ज्ञानं क्वचित्तच्च न संगवर्जितम्।
कश्चिन्महांस्तस्य न कामनिर्जयः
स ईश्वरः किं परतो व्यपाश्रयः ॥
धर्मः क्वचित्तत्र न भूतसौहृदं
त्यागः क्वचित्तत्र न मुक्तिकारणम्।
वीर्यं न पुंसोऽस्त्यजवेगनिष्कृतं
न हि द्वितीयो गुण संग वर्जितः ॥
क्वचिच्चिरायुर्न हि शीलमंगलं—
क्वचित्तदप्यस्ति न वेद्य मायुषः।
यत्रोभयं कुत्र च सोऽप्यमंगलः
सुमंगलः कश्चन कांक्षते हि माम् ॥
एवं विमृश्याव्यभिचारिसद्गुणै—
र्वरं निजैकाश्रयतागुणाश्रयम्।

वव्रे वरं सर्वगुणैरपेक्षितं
रमा मुकुन्द निरपेक्षमीप्सितम् ॥

मतलब, जो लक्ष्मी का स्वामी बनना चाहता है, उसमें तप, अक्रोध, ज्ञान, अनासक्ति, इन्द्रियों का निग्रह और निराश्रयवृत्ति होनी चाहिए। वह धर्म का उपासक हो, स्नेहार्द्र हो, त्यागवृत्तिवाला हो, वीर, और निस्पृह हो। ये गुण जिसमें हो, लक्ष्मी उसके पीछे दौड़ती है। पर जो धन के पीछे दौड़ते हैं, लक्ष्मी उनके यहां दीर्घकाल तक नहीं टिकती।

"जमनालालजी में ये सारे गुण नहीं आये, पर वह इन गुणों के उपासक थे। धन के प्रति निस्पृहता, उदासीनता, उनमें कूट-कूटकर भरी थी। लक्ष्मी ने भी इसीलिए उनको वरा।"

हर व्यापारी दीपावली के दिन लक्ष्मी-पूजन करता है और भगवान् से प्रार्थना करता है कि उसे व्यापार में लाभ हो। शुभ-मुहूर्त में नए बहीखातों की पूजा भी होती है और कुछ लिखा जाता है। जमनालालजी की धनोपार्जन के प्रति वृत्ति क्या थी इसकी कल्पना बही के निम्नोद्धृत शब्दों से आ सकती है। जमनालालजी की वृत्ति को चिर अमरता और महत्ता प्रदान करने के लिए ये थोड़े से शब्द ही काफी मूल्य रखते हैं। शायद ही कोई व्यापारी अपने बहीखातों में ऐसा लिखता हो! उसका चित्र भी खिंचवा लिया है। यहाँ चित्र के साथ पढ़ने की सुविधा के लिए वे शब्द दे रहा हूं।—

१॥ श्री हरि
१॥ श्री रामचन्द्राय नम:
१॥ श्री गणेशजी

१॥ श्री लीछमाजी महाराज को पुजन कर्‌यो छे १९७९ मिती काती बदी १५ वार मुकरवार ता० २० सफटेम्बर ईसबीसन १९२२ मराठीसन १३३२ चीतरा नक्षत्र मांही श्री लीछमी सु प्रार्थना छकी सदबुधी देव तथा सचाई क साथ व्यांपार करन की तथा रुजगर माही लाभ होव ताकी देस तथा दुखी जनता क काम मांही लगान की बुद्धि देव।"

इस तरह धन के प्रति अनासक्त रहकर उन्होंने जीवन-विकास का प्रयत्न किया। धन के प्रति विरागी होने से ही लक्ष्मी उनके चरणों में लोटती फिरी। कहा भी तो है कि त्यागी ही सब कुछ का अधिकारी होता है। मांगनेवाले को भीख नहीं मिलती और बिना मांगे मोती मिल जाते हैं। महाकवि बनारसीदास नें कहा है कि जो आशा रखते हैं वे जगत के दास होते हैं और आशा जिनकी दासी होती है, जगत भी उनका दास हो जाता है। जमनालालजी सच्चे अर्थों में अनासक्त लक्ष्मीपति थे।

: ६ :

आगलबुद्धि वाणिया

प्रिय ईश्वर,

आज मैं तुम्हें वणिक अथवा बनिए के विषय में लिख रहा हूँ। जमनालालजी वणिक समाज में पैदा हुए थे। वणिक यानी व्यापारी। आज का व्यापारी धूर्त, ठग और शोषक का पर्यायवाची बन गया है। यहाँ तक कि बनिया शब्द स्वयं गाली बन गया है। आज जो शब्द गाली या तिरस्कार के रूप में रूढ़ हुआ है उसे ही एक समय था जब 'महाजन' कहा जाता था; तब वह समाज और देश के लिए उपयोगी और मार्गदर्शक समझा जाता था। लेकिन अब उसे वह स्थान प्राप्त क्यों नहीं है? इस विषय पर हमें विचार करना ही होगा।

समाज में जिस प्रकार गुरु, सैनिक, और वैद्य की जरूरत होती है उसी तरह उसका व्यापारी भी आवश्यक अंग है। सच पूछा जाय तो व्यापार समाज का सच्चा सेवा-धर्म है। समाज की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति व्यापार के माध्यम से होती है। मान लो चार स्थानों पर चार प्रकार की चीजें उत्पन्न हुईं किंतु वहाँ वालों को उन चीजों की उस समय उतनी जरूरत नहीं है। ऐसे वक्त व्यापारी उन सब चीजों का संग्रह जहाँ जरूरत हो वहाँ भेजता है और उस स्थान पर भी जरूरत पड़ने पर वापिस देता है और आवश्यक चीजें बाहर से मंगाकर देता है। चीजों के उत्पादन,

संग्रह और वितरण में सावधानी, दूर दृष्टि अगर व्यापारी न रखे तो समाज-जीवन का चक्र अच्छी तरह नहीं चलेगा और अव्यवस्था फैल जायगी। लेकिन व्यापारी जब तक निस्वार्थ भाव से धर्म समझ कर ही उत्पादन, संग्रह और वितरण की योजनाएँ करता है और समाज को सुखी बनाने में अपने परिश्रम का उचित पुरस्कार ही ग्रहण करता है तब तक व्यापार आदर और सम्मान की वस्तु समझा जा सकता है। अगर व्यापारी इस धर्म से च्युत हो जाय या वह अपने उत्तरदायित्व को त्याग दे तो समाज में भयानक अव्यवस्था निर्माण हो सकती है। इतना ही नहीं, लोग सारी सामग्रियों के रहते हुए भी भूखों मर सकते हैं। सामान्य जनता के पास न इतना समय होता है और न इतना धन कि दूर दूर के स्थानों पर अपने सम्बन्ध स्थापित कर सके और अपने लिए जीवन की आवश्यक सामग्रियों का आदान-प्रदान कर सके। ऐसे काम को व्यापारी सहज और कुशलता से कर लेता है। सचमुच व्यापारी समाज का वह केन्द्र-बिंदु है जहाँ सब लोग आपस में मिल जुल सकते हैं और बिना किसी कठिनाई के अपनी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं।

महाजन ऐतिहासिक काल का शब्द है। इसी को प्रागैतिहासिक काल में या भगवान महावीर के पूर्व श्रेष्ठी शब्द से संबोधित किया जाता था। जैन तथा बौद्ध शास्त्रों में श्रेष्ठी, साहू, साधु श्रावक आदि शब्द व्यापारी या महाजन के लिए ही व्यवहृत किए गए हैं। ये शब्द बताते हैं कि समाज में वे श्रेष्ठ और साधु-वृत्ति के समझे जाते थे। उस समय संत या मुनि को श्रमण या भिक्षु कहा

जाता था और गृहस्थ को साहू, श्रावक या साधु। वे साधु-वृत्ति के गृहस्थ अनेक कठिनाइयाँ झेलकर और, दूर दूर की यात्राएँ कर आवश्यक वस्तुओं का आयात-निर्यात करते। सैकड़ों साधु संतों के खाने पीने का जगह जगह प्रबंध करते, संघ निकालते, मार्गोपर पथिकों के लिए धर्मशालाएँ, वस्तीगृह, जलाशय आदि बंधवाते और इन सब के बदले में यथोचित पुरस्कार ग्रहण करते थे। समय आने पर अपने संचित धन का मुक्त-हस्त से जनता के लिए दान भी कर देते। इन सब बातों को देख कर ही तत्कालीन जनता ने इस वर्ग को श्रेष्ठी और साधु शब्द से संबोधित किया प्रतीत होता है।

गीता की ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं तब ज्ञात होता है कि उसमें इस वर्ग के लिए कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य इन तीन कार्यों का उल्लेख वैश्य धर्म के रूप में किया गया है। समाज की पहली जरूरत अन्न है। कहाँ किस प्रकार के अन्न की जरूरत होती है यह सब देखना वैश्य का धर्म है। और जब कभी किसी कारण किसी वस्तु की कमी पड जावे तो उसकी पूर्ति वैश्य करे। वह कृषि करता था, गाएँ पालता था और समाज को उपयुक्त और पौष्टिक खाद्य वितरित करता था। जो चीज उसके पास नहीं होती थी और समाज के लिए जरूरत रहती थी उसको मंगवा संग्रह करता और वितरण करता। और इस कर्तव्य को वह अपना धर्म समझता था। वह समझता था कि इस कर्तव्य के रूप में वह समाज की सेवा कर रहा है। स्वार्थ या धन-संग्रह जीवन का उद्देश्य नहीं मानता था। इसीलिए ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध और महावीर के समय से लेकर गत

सतरहवीं-अठारहवीं शताब्दि तक कितने ही राज्य उठे और गिरे, किंतु श्रेष्ठी या महाजन ने अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा नहीं की। प्रजा-जीवन को सुखी बनाए रखने में उसने पूरी कोशिश की और किसी को नंगा-भूखा रहने का मौका नहीं आने दिया। क्षत्रियों के आपसी झगड़ों के कारण देश कई भागों में बँट, राज्य सत्ता भी बदलती रही लेकिन महाजन इन सब से परे प्रजा-जीवन में अव्यवस्था और भुखमरी पैदा न होने देने का प्रयत्न करता रहा। इतिहास इसके लिए भी साक्षी है कि जिस प्रदेश में महाजनों का प्रभाव कम हो गया या छीन लिया गया तब उस प्रदेश में भुखमरी और अकाल के दर्शन अधिक हुए हैं।

महाजनों का प्रभाव क्षेत्र मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र, कच्छ और राजस्थान रहा है। तुम जानते हो कि राजस्थान, सौराष्ट्र और कच्छ सूखे प्रदेश हैं। बारबार अकाल पड़ता रहता है। यहाँ के लोग निरंतर अन्न-संकट से घिरे रहते हैं; लेकिन यहां के महाजनों के कारण प्रजा को उतनी भीषणता का सामना नहीं करना पड़ता जितना किसी दूसरे प्रांत में एकाध बार भी अकाल पड़ने पर।

राजस्थान, सौराष्ट्र, मालवा और गुजरात का इतिहास बताता है कि समय समय पर ऐसे ऐसे वैश्य-शिरोमणि हो गए हैं जिन्होंने राज्य की बागडोर संभालकर राजा और प्रजा दोनों को महान् संकटों से बचाया है। मेवाड़ के भामाशाह, गुजरात के वस्तुपाल तेजपाल, मंत्रीवर विमलशाह, तथा खेमा देदराणी आदि कई प्रभावशाली और संपन्न महाजन अपनी प्रशस्त उदारता और प्रजाहितैषिता के कारण

इतिहास में अमर हो गए। उन्होंने महाजन वंश में जन्म लेकर महाजन पद को गौरवशाली बना लिया।

राजस्थान का डिंगल साहित्य भी राजपूतों के साथ साथ ही महाजनों की विरुदावलियों से भरा पड़ा है। वैश्यों संबंधी कथाएँ तथा कहावतें प्रचुर परिमाण में मिलती हैं। वस्तुतः देखा जाय तो जन-जीवन से सीधा संपर्क महाजनों का ही रहा है। गुजराती साहित्य में भी वणिक या महाजन वर्ग के प्रति सद्‌भावना मूलक तथा सम्मान सूचक पंक्तियाँ मिलती हैं। कवि सामळभट्ट ने लिखा है :

वणिक तेहनु नाम जेह झुठु नव बोले।
वणिक तेहनु नाम जेह तोल ओछुं नव तोले॥
वणिक तेहनु नाम बापे बोल्यूं तेपाळे।
वणिक तेहनु नाम व्याज सहित धन वाळे॥
विवेक तोल ये वणिक नुं, सुलतान तोल ए साच छे।
बेपार चूके जो वाणियों, दुःख दावानळ थाय छे॥

और बंभ भाट की ये पंक्तियाँ भी हमें महाजन के गौरव का स्मरण कराती हैं :

महाजन अम्रमें समो करे, करे ते उत्तम काज।
आगलबुद्धी वाणिया, सो मैं दीठा आज॥
सीताहरण, रावणमरण, कुंभकरण भड् अंत।
एती जो आगे हुई बिन महता मतिमंत॥
लिये दिये लेखे करी, लाख कोट धन धार।
महाजन समो को अवर नहीं, मरण भूपभंडार॥

पूज्य बापू ने एक बार कहा था कि सच्चा वणिक अपना व्यापार धर्म समझकर करता है। और सच भी है कि जो व्यापारी न्याय और सचाई से धनार्जन कर लोगों की भलाई में खर्च करता है उस सेवक को सब चाहते हैं और उसका आदर भी करते हैं। कवियों ने जब महाजन की प्रसंशा में वाणी और कलम का उपयोग किया था तब महाजन ऐसा ही था।

बापू स्वयं वैश्य कुल में उत्पन्न हुए थे। वैश्य में व्यवहारबुद्धि का परंपरागत संस्कार रहता ही है। बापू में भी था ही। यही कारण है कि राजनीति में प्रवेश करने के बाद भारतीय स्वतंत्रता प्राप्त करने में जो सफलता उन्हें मिली, उसमें उनकी व्यावहारिक बुद्धि का बहुत बड़ा हाथ था। अनेकों कार्यकर्ताओं को जुटाने तथा उनसे कार्य लेने में वे सूझ-बूझ से काम लेते थे।

कहावत है कि वणिक 'आगल बुद्धि' होता है। अर्थात् जो बात दूसरों को बाद या देर में सूझा करती है वह वणिक को पहले सूझती है। वणिक्-श्रेष्ठ जमनालालजी बजाज ने सन् १९२६ में अग्र-वाल महासभा के अध्यक्षपद से जो भाषण किया था उससे उनकी पैनी बुद्धि का पता चलता है। आनेवाले संकट को ताड़कर उससे बचने का उपाय भी बताया था। उन्होंने कहा था :

"हम जिस प्रांत, समाज या देश में रह कर द्रव्य उपार्जन करते हैं उसका पूरा ध्यान रखें और आवश्यकता के समय उत्साह पूर्वक उसकी सेवा के लिए आगे बढ़ें। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो अंग्रेजों से हमें जो शिकायत है वही हम पर वर कर सकती है।

"....व्यापार में व्यावसायिक प्रामाणिकता का पालन करना चाहिए। परिश्रम, ईमानदारी और साथ ही होशियारी ये तीनों गुण व्यापारी में होने चाहिए।

"हमारे समाज में तेजस्विता और आत्मसम्मान की भी भारी कमी है। भीरुता भी हममें आगई है। अतिलोभ ही इसका कारण है। हमें अपने धन का उपयोग देश व समाज के हित में भी करते रहना चाहिए।"

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि आज से पचीस साल पहले स्वर्गीय जमनालालजीने जिस स्थिति की आशंका प्रकट की थी और उसके निवारण का जो उपाय बताया था उसका दर्शन आज हमें हो रहा है। स्थिति हमारे सामने उपस्थित है पर उसके निवारण करने की सामर्थ्य हम खो चुके हैं; क्योंकि आज व्यापारी वर्ग अपने समाजहित के धर्म को भूलकर केवल व्यक्तिगत स्वार्थ और लोभ में फंस गया है। यही कारण है कि राष्ट्रीय स्वाधीनता मिलने के उपरांत भी प्रजा का जीवन अशांत और दुखी है। अगर व्यापारी वर्ग अपने धर्म को नहीं भूलता और देश के हित को ध्यान में रख कर जनता की कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न करता तो समस्याएँ आसानी से सुलझ सकती थीं। और इस समय जो अनादर और तिरस्कार का भाव व्यापारियों के प्रति जनता में बढ़ता जा रहा है वह आदर के रूप में बदल सकता था।

व्यापारी लोग समस्याओं की उलझनों का दोष सरकारी नियंत्रण और अफसरों पर लगाते हैं। यह ठीक है कि नियंत्रण

लगाने से जनता में घबराहट-सी पैदा हो जाती है और वे सोचने लगते हैं कि बाजार में वस्तु का अभाव हो गया है इसलिए अधिक से अधिक खरीद कर संग्रह करने की वृत्ति बढ़ जाती है। और कई बार अधिक दामोंपर खरीदने की तत्परता दिखाई जाती है। इस बात को रोकने के लिए जो अफसर नियुक्त होते हैं, अक्सर वे ही रिश्वत लेकर नियमों को तोड़ने में सहायक बनते हैं। और इसी कारण काले बाजार का निर्माण होता है। काले बाजार में जनता के साथ सीधा सम्बन्ध व्यापारियों का आता है इसलिए वे ही बदनाम होते हैं। घूस या रिश्वत लेनेवाले अफसर बच जाते हैं। पर व्यापारी यदि लोभ में न पड़ें और उत्पादन, संग्रह तथा वितरण का कार्य अपना धर्म समझकर समाजहित के लिए ईमानदारी पूर्वक करते जावें तो वस्तुओं का अभाव दूर हो सकता है और वातावरण भी शांत तथा उनके अनुकूल हो सकता है।

जमनालालजी ने अपने लिए इस आदर्श को अपना लिया था कि जिस काम से देश या समाज का हित नहीं होता उसे कदापि नहीं किया जाय, चाहे उसमें लाखों और करोड़ों का लाभ क्यों न हो। कई मित्रों ने कपड़े की मिल, वनस्पति घी के कारखाने आदि खोलने के प्रस्ताव उनके सामने रखे, लेकिन उन्होंने ये काम करना स्वीकार नहीं ही किया। जिस कार्य में उन्होंने हाथ डाला उसमें ईमानदारी और न्याय से ही धन कमाया और लोक-कल्याण में उस धन का उपयोग किया।

जमनालालजी की दृष्टि सूक्ष्म और पैनी थी। वणिकों के प्रति बढ़ते हुए अनादर के कारणों को उन्होंने समझ लिया था। वे निरंतर उन कारणों को दूर करने के लिए मार्गदर्शन किया करते थे। यह कार्य वे केवल उपदेश द्वारा ही नहीं, अपने नीति-पूर्ण व्यवहार और आचरण द्वारा करते थे। वे मानने लगे थे कि वैश्यों का सहज धर्म कृषि, गो-सेवा और वाणिज्य है। और इसी दृष्टि से उन्होंने कृषि तथा गो-सेवा का कार्य शुरू किया था। उनकी इच्छा विस्तृत पैमाने पर कृषि करने की थी। और इसीलिए बच्छराज खेतीज लि० नामक कंपनी खोलकर ३०-३५ गाँवों में कृषि कार्य शुरू किया गया था।

यह सारी कृषि मुनीमों के मार्फत होती थी। लेकिन समय समय पर वे स्वयं गाँवों में जाकर देखा करते थे कि उनके कार्यकर्त्ता और मुनीम किसी प्रकार किसानों आदि पर अन्याय, ज्यादती या जुल्म तो नहीं करते हैं। मृत्यु के कुछ समय पूर्व एक बार पं० दरबारीलालजी सत्यभक्त के साथ वे गांवों पर घूमने निकल गए थे। उस समय की एक घटना सत्यभक्तजी ने सुनाई थी। वह यहाँ दी जा रही है।

बात अगरगाँव की है। वहाँ के एक किसान ने जमनालालजी से उनके कार्यकर्त्ता की शिकायत की। जमनालालजी ने इस मामले को निपटाने के लिए किसान कार्यकर्त्ता श्री धोपटेजी को पंच नियुक्त किया। जब मामले की जाँच शुरू हुई तब जमनालालजी ने किसान का पक्ष लेकर अपने मुनीम से वकील की तरह जिरह की।

जब मालिक लोग अपने कार्यकर्त्ताओं से किसी प्रकार का अन्याय न होने देने का पूरा खयाल रखेंगे और सम्पर्क में आनेवालों के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करेंगे तब निश्चित ही वे जनता के प्रेम-भाजन बनेंगे और आदर भी प्राप्त कर सकेंगे।

अब अपने देश के व्यापारियों का कर्तव्य है कि वे केवल निजी स्वार्थों के पीछे ही न पड़े रहें। देश की संकटापन्न अवस्था का अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे तो उन्हें भी संकट से बचानेवाला कोई नहीं रहेगा। पैसा संकट से नहीं बचाता, वह तो और भी अधिक संकट में डाल देता है। व्यापारियों को इस समय यह देखना है कि देश में जिस वस्तु की कमी है उसका उत्पादन बढ़ाया जाय। उत्पादन बढ़ाने के साथ साथ उसका व्यवहार बुद्धि से संग्रह किया जाय और वह संग्रह कुशलतापूर्वक जहाँ जरूरत हो वितरित करने का प्रबंध किया जाय। सारा दोष सरकार और नियंत्रण तथा अफसरों पर लादने से काम नहीं चलेगा। वे चाहे जो करते रहें, लेकिन अगर व्यापारी प्रजा को सुखी और संतोषी बनाना चाहें तो कोई ऐसी शक्ति नहीं जो उन्हें अपने धर्म से डिगा सके।

सच्चे व्यापारी या गृहस्थ के सम्बन्ध में १३ वीं शताब्दी के महा पंडित आशाधरजी ने एक ही श्लोक में बहुत-कुछ मर्म की, आदर्श की और समाज-हित की बात कह दी है। उन्होंने आदर्श-गृहस्थ के लिए १४ गुणों की आवश्यकता पर जोर दिया है। वह श्लोक इस प्रकार है :

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भज—
न्नन्योन्यानुगुणं तदर्ह गृहिणीस्थानालयो ह्री मयः ॥
युक्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी
श्रृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत् ॥

—सागार धर्मामृत १. ११॥

अर्थात् आदर्श गृहस्थ न्यायपूर्वक धनार्जन करता है, गुणी पुरुषों और गुणों का सम्मान करता है, प्रशस्त और सत्यवाणी बोलता है; धर्म-अर्थ-काम पुरुषार्थ का परस्पर अविरोधी सेवन करता है। इन पुरुषार्थों के योग्य स्त्री, स्थान और भवन आदि धारण करता है। वह लज्जाशील, योग्य आहार-विहार करने वाला और सदाचारी सत्पुरुषों की संगति में रहता है। हिताहित का विचार करने में तत्पर रहता है। वह कृतज्ञ और जितेन्द्रिय होता है। वह धर्म-विधि को सुनने वाला, दयालु और पाप-भीरु होता है।

आज के व्यापारी जमनालालजी के आदर्श तथा महा पंडित आशाधर के संदेश को अपने आगे रखकर व्यापार करें, किसी की अड़चन का अनुचित लाभ न उठावें, गरीब को न ठगे, अनुचित ब्याज न लें तो वे समाज का बहुत भला कर सकेंगे और तब कहा जा सकेगा कि सच्चे अर्थों में वे 'महाजन' हैं।

: ७ :

व्यवहार-कुशलता, परिश्रम और लगन

प्रिय ईश्वर,

पिछले पत्रों में मैंने कुछ ऐसे गुणों की चर्चा की है जो जीवन-विकास के लिए आवश्यक हैं। लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि कुछ बातें और भी हैं जिनकी सहायता के बिना जीवन में अपूर्णता रह जाती है और मनुष्य का विकास अधूरा ही हो पाता है। इसीलिए इस चर्चा को आगे बढ़ा रहा हूँ। इस पत्र में जिन तीन गुणों की चर्चा की जा रही है, वे हैं: व्यवहार-कुशलता, परिश्रम और लगन। सफल व्यापारी, कार्यकर्त्ता और विश्वास-पात्र बनने के लिए मनुष्य में इन गुणों का होना भी आवश्यक है।

जमनालालजी कहा करते थे : "परिश्रम, होशियारी, लगन और प्रामाणिकता होने पर व्यवसाय में सफलता मिलनी ही चाहिए—भले ही कुछ समय तक प्रतीक्षा करनी पड़े और धीरज भी रखना आवश्यक हो जाय। लेकिन इस प्रतीक्षा और धीरज की आवश्यकता तभीतक होती है जब तक कि जनता परख न ले। जनता की परीक्षा में उत्तीर्ण होनेपर तो व्यापार में सफलता प्राप्त होना निश्चित ही है।"

चाहे जितना और चाहे जैसा कार्य और श्रम करने पर ही साख नहीं जम जाया करती। लोगों का विश्वास प्राप्त करने के लिए,

अपनी साख जमाने के लिए सत्य-निष्ठा और प्रामाणिकता भी आवश्यक है। जो आदमी वचन का सच्चा होता है, उसके लिए संसार में किसी बात की कमी नहीं रहती।

सन् १९२३ की बात होगी। जमनालालजी उन दिनों खादी-बोर्ड के अध्यक्ष थे। तब चर्खा-संघ स्थापित नहीं हुआ था। कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने खादी-बोर्ड स्थापित कर उसके द्वारा खादी-प्रचार का कार्य शुरू किया था। इसी समय पहली बार मैं जमनालालजी के सम्पर्क में आया। मैं भी एक खादी-कार्यकर्त्ता था। उसदिन हम सब खादी-कार्यकर्त्ताओं से जमनालालजी ने कहा: "खादी का कार्य एक व्यापार है। सच्चा व्यापार वह है जिससे सब के साथ साथ कार्य करने वाले का भी हित होता है। खादी वस्तुतः सच्चा यानी पारमार्थिक कार्य है। व्यापार की सफलता के लिए व्यावसायिक बुद्धि का होना आवश्यक है। कोई भी व्यापार प्रारंभ करते समय हमें उसमें आनेवाली अधिक से अधिक कठिनाइयों, बाधाओं और हानि की संभावनाओं का विचार कर आगे बढ़ना चाहिए। हरिण का शिकारी यदि सिंह की शिकार की तैयारी से निकलता है तो उसे पछताने का या निराश होने का शायद ही मौका आए। मैं किसी भी कार्य को प्रारंभ करते समय आनेवाली कठिनाइयों, जोखम और हानि को आंक कर देख लेता हूँ कि इन सबको सहन करने की मुझ में कितनी शक्ति है और उतनी शक्ति हुई तो मैं कार्य प्रारंभ कर देता हूँ। इससे व्यापार में घाटा लगने के प्रसंग बहुत कम आते हैं। व्यापार में पड़ने के बाद अबतक मुझे

केवल दो बार ही घाटा लगा है, किंतु वह इतना अधिक नहीं था कि जिसे मैं सहन नहीं कर सकता था। लेकिन मुझे लाभ तो कई बार हुआ है और बहुत अधिक हुआ है।

'आप लोगों से भी मेरा निवेदन है कि खादी-कार्य में पड़ने-वाली अड़चनों का पहले से विचार कर लें और उनके निवारण के उपायों पर विचार करते करते ही आगे बढ़ें और तत्सम्बंधी जानकारी प्राप्त करते रहें। किसी भी कार्य में लगते समय उसके विशेषज्ञों या जानकारों से सीख लेना चाहिए। जानकारी के अभाव में कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता, बल्कि धोखा भी खाना पड़ता है।

"आप लोग परिश्रमी और बुद्धिमान् हैं इसलिए इस विषय पर मैं कुछ नहीं कहना चाहता। लेकिन परिश्रमी और बुद्धिमान् को भी बार-बार कार्य बदलते रहने से यश नहीं मिल सकता। इसलिए कार्य चुनने के पहले ही विचार कर लेना चाहिए और एक बार किसी कार्य को चुन लेने पर उसी में पूरी शक्ति से जुट जाना चाहिए। इस प्रकार किसी कार्य में जुट जाने और उसकी जानकारी से जो अनुभव मिलता है वह बहुत मूल्यवान होता है। यदि आप लोग इन बातों को ध्यान में रखकर कार्य करेंगे तो सफलता अवश्य मिलेगी। और उसका आनन्द भी अवर्णनीय होगा।"

जमनालालजी की बातों का मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा। यों तो स्व० लोकमान्य तिलक महाराज ने भी मुझे प्रेरणा दी ही थी कि मेरे लिए जमनालालजी ही आदर्श हो सकते हैं और मैं उनका

सान्निध्य प्राप्त कर जीवन को अपनी रुचि के अनुसार सफल बनाऊँ ।
इसी प्रथम सम्पर्क के समय मुझे लगा कि तिलक महाराज ने जो
कुछ कहा था वह बिलकुल यथार्थ है । अब मैं निरंतर जमनालालजी
के सम्पर्क में आने का प्रयत्न करने लगा। मेरा उनके प्रति आकर्षण
बढ़ता ही चला । व्यापारी-परिवार में जन्म लेने के कारण संस्कारगत
व्यापारिक रुचि रहना स्वाभाविक था और तत्सम्बंधी बातें समझने में
आसानी भी महसूस होती थी । मैं जैसे जैसे उनके सम्पर्क में आता
गया, मुझे उनका अधिकाधिक परिचय होने लगा और मन ही मन
मैंने अपने को उनके हाथों में सौंप दिया ।

ज्यों ज्यों मैं उनकी सफलता के कारणों का अभ्यास और
विचार करता गया त्यों त्यों मुझे ऐसा लगा कि वे जो कहते हैं वैसा
ही करते भी हैं और जो करते हैं वह लगन तथा परिश्रम पूर्वक करते
हैं । लेकिन उनके गुणों का यथार्थ परिचय तो मुझे उनकी मृत्यु के
कुछ समय पहले, उसी समय हुआ जब वे पूरी तरह गोसेवा के कार्य
में लग गये थे और मैं भी उन्हीं के साथ रहने लग गया था । इस
समय जो थोड़े महीनों तक उनके निकट रहा उनकी महानता को
उससे समझने का काफी मौका मिला । ये मेरे जीवन के अपूर्व
क्षण थे । सचमुच जमनालालजी इस समय बहुत ऊँची अवस्था पर
पहुँच गए थे । सन् १९४१ में जब वे जेल से अस्वस्थ होकर लौटे
तब बापू ने उनकी हालत को देखकर कहा कि अब वे जेल आदि के
आंदोलन को छोड़ किसी सेवा-कार्य में लग जावें । यों तो उन्होंने जीवन-
भर समाज और देश की सेवाएं कीं और सदा अनासक्त भाव से कीं,

और जनता से सम्मान, आदर, प्रतिष्ठा भी काफी मिली। पर जमनालालजी को यह सब बाधा रूप मालूम होने लगा था। वे सेवा को आत्मोन्नति का साधन मानते थे और निरपेक्ष भाव से ही सेवा-व्रत का पालन करने की सावधानी रखते थे। फिर भी अब उन्हें ऐसा लगा कि कुछ ऐसा ही कार्य करना चाहिए जो व्यक्ति और समाज से भी ऊपर राष्ट्र-हित में सहायक हो। वे अपना पूर्ण विकास करने के लिए विकल हो उठे थे और ऐसा ही कार्य ढूंढना चाहते थे जो उनके ध्येय की पूर्ति कर सके। इन दिनों उनका वैराग्य पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। खूब सोच विचार के उपरांत अपने गुरु विनोबाजी तथा पिता बापू की सलाह से उन्होंने गो-सेवा के कार्य को चुना। अब तक उनका सेवा का क्षेत्र मानव-जगत तक सीमित था, अब वह और आगे बढ़ गया।

ऊपर लिखा गया है कि वे वैराग्य की ओर झुकते चले थे। लेकिन उनका वैराग्य कर्म-शील था। वह उस निष्क्रिय वैराग्य के समान नहीं था जो आदमी को कोई भी समाजहित का कार्य करने से रोकता है। आजकल कुछ ऐसा समझने की मनोवृत्ति लोगों में पाई जाती है कि जो उत्कृष्ट विरागी होता है उसे केवल आत्मा का चिंतन ही करना चाहिए। उसे जगत के व्यवहार और सुख-दुखकी झंझट में नहीं पड़ना चाहिए। यही कारण है कि आज जो गृह-त्यागी और साधु दिखाई देते हैं वे अपने को समाज और देश के उत्तरदायित्व से अलग समझते हैं। और कहते हैं कि इन सांसारिक बखेड़ों से हमारा कोई संबंध नहीं है। इतना ही नहीं, वे यह भी कहते हैं कि ये सब बातें हमारी साधना में बाधक भी हैं।

बात तो यह भी सच ही है, किंतु कुछ ही अंशों में। वैराग्य का सीधा अर्थ मोह या आसक्ति-विहीनता है। मोह या आसक्ति में फँस कर ही आदमी परिवार, समाज और देश के सम्बन्धों में विवेक और मर्यादा को भूल जाता है। इसीलिए गीताकार ने अनासक्ति पर अधिक जोर दिया है। जब हम संसार में रहते हैं, अन्न-वस्त्र का तथा अन्य वस्तुओं का उपयोग करते हैं और दूसरों की सेवा से लाभ भी उठाते हैं तब हमारा भी कर्तव्य हो जाता है कि संसार तथा संसारिक संबंधों से जो कुछ लेते हैं उसे लौटाया भी जाय। और यह काम कर्मशीलता के बिना संभव नहीं है। निष्क्रिय वैराग्य तो समाज और देश पर भार ही हो सकता है। अनासक्ति पूर्वक किया गया कोई भी कार्य देश और समाज के लिए निर्दोष, सात्विक और हित-प्रद ही होता है। जमनालालजी ने इसी अनासक्ति से गो-सेवा का कार्य शुरू किया। वे चाहते थे कि देश यह समझ जाय कि इस समय उसे गो-सेवा की कितनी अधिक आवश्यकता है और जीवन में उसका कितना महत्त्व है। वे इस कार्य को देशव्यापी बनाना चाहते थे और इसीलिए उन्होंने पूरे वेग और शक्ति से इसे संचालित किया। बापू ने उनकी अस्वस्थ अवस्था को देखकर आराम लेने की दृष्टि से कहा था कि अब उन्हें जेल नहीं जाना चाहिए, लेकिन उन्होंने गो-सेवा के कार्य में भी इतना अधिक परिश्रम किया कि उनका अस्वस्थ शरीर यह सहन नहीं कर सका। वे इस नश्वर शरीर और संसार को छोड़ कर चले गए। उनके उठ जाने से समाज और देश को काफी क्षति पहुँची है। अन्त में उन्होंने

बापू के समक्ष गो सेवा का संकल्प करते हुए जमनालालजी

जिस कार्य को हाथ में लिया था, उसे भी यदि वे दो-चार वर्षों तक और जीवित रहकर चला पाते तो आज देश में गो-सेवा, गो-रक्षण और कृषि का इतना प्रसार हो जाता कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि गो-सेवा के कार्य में उन्होंने मुझे भी अपने साथ ले लिया था। वे चाहते थे कि इस कार्य में मैं अपनी पूरी शक्ति लगा दूँ और अपना विकास करूँ। समय-समय पर वे मुझे अपने जीवन के अनुभव अत्यन्त स्नेहभाव से सुनाते रहते थे। कुछ बातें, जो स्मरण में रह गई हैं, यहाँ अपने शब्दों में दे रहा हूँ :

'अनुभव प्राप्त किए बिना कोई भी बड़ा कार्य नहीं करना चाहिए। यदि बड़ा कार्य करना ही हो तो पहले उसे छोटे प्रमाण में करके उसका अनुभव लेकर ही आगे बढ़ना चाहिए। तुम्हें गो सेवा का कार्य बहुत बड़े पैमानेपर करना है। किन्तु मैं चाहूँगा कि शुरुआत वर्धा की गो-शाला के कार्य से ही हो। उसका छोटे-से छोटा कार्य भी तुम्हें अपने हाथ से करना चाहिए। यहाँ तक कि गोबर उठाने से लेकर हिसाब तक सारे कार्य का अनुभव तुम्हें लेना चाहिए। जब तुम्हें मालूम हो जायगा कि किस समय, कहाँ, कौनसा कार्य करना आवश्यक है, तब उस संबंध में किसी से पूछने की जरूरत ही नहीं रहेगी। तुम्हें स्वयं सूझता जायगा कि कहाँ क्या करना है और अगर उस उस कार्य के विशेषज्ञों से जानकारी प्राप्त करते जाओगे तो ज्ञान भी बढ़ेगा। इसके बाद ऑफिस की व्यवस्था आती है। इसका भी योग्य संगठन होना चाहिए। कार्य की बहुत-

कुछ सफलता ऑफिस की व्यवस्था पर अवलम्बित रहती है। बही-खातों के संबंध में अत्यन्त सावधानी बरतनी चाहिए। हिसाब प्रतिदिन बराबर लिखा जाना चाहिए और उसपर हस्ताक्षर हो जाने चाहिए। मैंने देखा है कि हिसाब संबंधी अव्यवस्था या ढिलाई के कारण अच्छे-अच्छे कार्यकर्त्ताओं को बहुत-कुछ भला-बुरा सहना पड़ा है। और असफलता का शिकार बनना पड़ा है। हिसाब चरित्र की कसौटी है। हिसाब की अव्यवस्था चरित्र की ढिलाई को, अव्यवस्था और अगंभीरता को प्रकट करती है। अपने अधीनस्थ कार्यकर्त्ताओं को अव्यवस्था से बेईमानी करने का मौका मिल जाता है या बेईमानी की नीयत न होने पर भी कईबार ऐसी भूलें हो जाती हैं कि उनका सुधरना बड़ा कठिन हो जाता है और काफी शक्ति खर्च करनी पड़ती है। और सामान्य जनता को बेईमान बताने का एक मौका हाथ लग जाता है। इसलिए हिसाब के मामले में अत्यन्त सावधानी रखनी चाहिए। इस बात का पूरा ध्यान रहना चाहिए कि जितना बजट बना है उससे कहीं अधिक तो खर्च नहीं हो रहा है। जो पैसा खर्च होता है वह व्यवस्थित और उचित होता है या नहीं, यह भी देखना चाहिए। प्रत्येक खर्च का प्रमाण-पत्र (वाउचर) भी रहना चाहिए और उसपर हस्ताक्षर हो जाने चाहिए। प्रतिदिन खतौनी कर लेनी चाहिए और प्रतिमास आंकड़ा भी तैयार हो जाना चाहिए। प्रतिमास आँकड़ा तैयार करने से कई लाभ होते हैं। हिसाब का लाभ-हानि का पूरा चित्र हमारे सामने आ जाता है और उससे आगे की दिशा-निर्धारण में बड़ा सुभीता रहता

गो सेवा करते हुए जमनालालजी

है, दूसरे कहीं कोई भूल या गलती रह गई हो तो जल्दी मिल जाती है। समय अधिक हो जाने पर गलती का मिलना बड़ा कठिन हो जाता है और उसमें शक्ति भी अत्यधिक व्यय होती है। फिर सबसे बड़ी और हानिकर बात यह होती है कि खर्च तो होता रहता है लेकिन हम जान नहीं पाते कि हम कहाँ हैं—हमें कितना खर्च करना चाहिए था, क्यों करना चाहिए था और जो हुआ है वह अनुचित था या उचित।

फिर ऑफिस का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है पत्र-व्यवहार। कार्य-संचालन और साफल्य में पत्र-व्यवहार का बहुत महत्त्व है। पत्र-व्यवहार से लोगों के साथ सम्बंध स्थापित होते हैं और बढ़ते भी हैं। पत्र लिखते समय भाषा, अर्थ और सीमा का बराबर ध्यान रखना चाहिए। भाषा सरल, असंदिग्ध तथा स्पष्ट होनी चाहिए। हम जो बात लिखना चाहते हैं, वही सामनेवाला समझे और भिन्न अर्थ न निकाले, इतनी सावधानी रखनी चाहिए। अधिक लम्बे और अधिक छोटे पत्र भी नहीं लिखने चाहिए। लम्बे पत्र पढ़ने में लोगों को आनन्द नहीं आता और हो सकता है आदमी कभी ऐसी भी बात लिख दे जो नहीं लिखनी चाहिए। लम्बे पत्र लिखते समय प्रायः लोग यह भूल जाते हैं कि उन्हें क्या लिखना था और क्या लिख रहे हैं। कभी कभी काम की बात छूट ही जाती है और पत्र दूसरी ओर बह जाता है। यही हाल छोटे पत्रों का है। पत्र इतने छोटे भी नहीं होने चाहिए कि अर्थ ही स्पष्ट न हो और हमारा स्नेह भी प्रकट न हो। किसी विरोधी को

या विचारों से मतभेद मूलक पत्र भी लिखना हो तो इतना संयत लिखना चाहिए कि पारस्परिक स्नेह और सहानुभूति में अन्तर न आए। और सब से बड़ी बात यह है कि जिस पत्र का उत्तर हमें देना हो वह सामने रहना चाहिए।

अब रह जाती है सम्पर्क साधने की बात। गो-सेवा के कार्य और महत्त्व को तुम्हें देश-व्यापी बनाना है। इसके लिए आवश्यक है कि इस विषय के भिन्न-भिन्न प्रांत के विशेषज्ञों, हितैषियों से सम्पर्क बढ़ाया जाय और उनमें से जो जो व्यक्ति उपयोगी पड़ सकते हों उनका ध्यान रखा जाय। इन लोगों का सहयोग, स्नेह और सम्पर्क ही तुम्हें अपने कार्य के विस्तार में सहायक हो सकता है।"

इस तरह वे मुझे समय-समय पर प्रेमपूर्वक अपने अनुभव की बातें समझाया और सुनाया करते थे।

वे उन दिनों गो-सेवा के कार्य में पूरी तरह तन्मय हो गए थे। रात-दिन सोते-उठते उन्हें दूसरी बात ही नहीं सूझती थी। जो बातें वे समझाते थे वैसा तो वे करते ही थे, बल्कि अपने ही हाथ से गो-सेवा का कार्य भी करते थे। यही कारण है कि उन थोड़े से महीनों में ही उन्होंने गो-सेवा का वह कार्य कर दिखाया जो दूसरों से वर्षों में भी नहीं हो सकता था।

यहाँ मैं एक घटना दे रहा हूँ, जिससे तुम जान सकोगे कि वे जिस कार्य को महत्त्व देते थे, उसके प्रति कितने तन्मय और तत्पर रहते थे और दूसरे कार्यों को केवल प्रतिष्ठा और बड़प्पन के

लिए ही स्वीकार करने से इन्कार कर देते थे। उन दिनों बापू बारडोली में थे और कांग्रेस महासमिति की बैठक वर्धा में बुलाने का विचार कर रहे थे। जमनालालजी की इच्छा स्वाभाविक थी कि महासमिति की बैठक उन्हींके यहां हो। उन्हें साथियों, सेवकों और नेताओं से मिलने की और उनका आतिथ्य सत्कार करने की तीव्र इच्छा थी। उन में अतिथि-सेवा का संस्कार बचपन से ही था। लेकिन उन्होंने देखा कि जब उन्होंने गो-सेवा के कार्य की जिम्मेवारी अपने ऊपर ले ली है तब इस जिम्मेवारी को नहीं लेना चाहिए। अतः उन्होंने भाई श्री पूनमचंदजी रांका को पूछा कि यदि वे महासमिति की जिम्मेवारी ले सकते हों तो वर्धा में मीटिंग बुलाई जाय। रांकाजी ने यह जिम्मेवारी स्वीकार कर ली और तब महासमिति की बैठक बुलाई गई। मतलब यह कि वे हर बात में संयम रखना आवश्यक समझते थे और जिस कार्य को हाथ में लेते थे उसकी जिम्मेवारी को प्रमुख समझते थे।

फरवरी में उन्होंने गो-विशेषज्ञों और गो-सेवा में दिलचस्पी रखनेवाले अनुभवी कार्यकर्त्ताओं का एक सम्मेलन बुलाया था। उस सम्मेलन में गो-सेवा के कार्य को एक नई दृष्टि और दिशा मिली। गाय की सेवा तब तक नहीं की जा सकती जब तक वह सभी दृष्टियों से उपयोगी न हो। वही नस्ल पाली जा सकती है जिसमें दूध हो और जिसके बच्चे खेती में उपयोगी पड़ सकते हों। लेकिन यह कार्य एक प्रांत की नस्ल को दूसरे प्रांत में ले जाकर नहीं होना चाहिए। स्थानीय नस्लों को ही उपयोगी और शक्ति-सम्पन्न बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। स्थानीय नस्ल पर जोर दिए बिना

गो-सेवा ठीक तरह नहीं हो सकती। यह दृष्टि इस सम्मेलन ने दी। यह गो-सेवा संघ का बहुत बड़ा काम था। यों तो उस सम्मेलन में और भी कई महत्त्वपूर्ण निर्णय हुए थे, किंतु यहाँ विस्तार-भय से केवल इस उदाहरण द्वारा यह बताना चाहता था कि जमनालालजी की कार्य-पद्धति में सफलता के बीज किस प्रकार समाए थे।

इस सम्मेलन में उन्हें काफी श्रम उठाना पड़ा था, फिर भी वे विश्राम नहीं कर सके। सम्मेलन के बाद ही दूसरे दिन वर्धा के गौ-रक्षण की मीटिंग में भी उन्हें पर्याप्त श्रम पड़ा। गौ-रक्षण और उसके महत्त्व की दृष्टि से कौन कौन से कार्य होना जरूरी हैं, इस पर उन्होंने काफी विचार किया। इस तरह किसी कार्य के प्रति तन्मयता ही सफलता की कुंजी है।

उनके इस श्रम को देखकर एक दिन सहज ही बापू के मुँह से निकल पड़ा था कि "जिस वेग से वे काम कर रहे हैं, उसे यह शरीर सह सकेगा या नहीं!"

और सचमुच उनका शरीर इस परिश्रम को बर्दाश्त नहीं कर सका। उनका शरीर जरा-जीर्ण हो चुका था। उन्हें नये शरीर की जरूरत थी। वे परिश्रम से इतना थक गये थे कि उन्हें महानिद्रा की जरूरत थी। यह महानिद्रा ऐसी ही थी जैसी थकावट को दूर करने के लिए हमें निद्रा की जरूरत होती है। नया तन और नई स्फूर्ति पाने के लिए वे सदेह रूपमें हमारे बीच से चले गये, पर कार्यों के भीतर उनकी सजग, वेगवान् और निष्ठावान् आत्मा अमर है, जाग्रत है। वह परिश्रम, लगन और व्यवहार-कुशलता का संदेश

जमनालालजी के गो-सेवा कार्य का विस्तार

अपनी ही वाणी में, अब भी प्रदान कर रही है। कहीं उन्होंने ही कहा था :

व्यापार में सफलता के कुछ नियम

१. जब तक पढ़ न लो, किसी कागजपर कभी दस्तखत न करो।

२. सिर्फ इस उम्मीदपर कि मुनाफा होगा, कभी पैसे की जोखम न उठाओ।

३. कभी इनकार करने से न डरो, अपनी बात को मनवाने की ताकत हर उस आदमी में होनी चाहिये, जो जीवन में सफलता चाहता है।

४. जो अनजान हैं, उन से सावधानी के साथ व्यवहार करो, यह नहीं कि उनसे सशंक रहो।

५. व्यवसाय के मामले में हमेशा साफ और सच्चे--बेलाग और बेदाग रहो, और हर चीज को लिखावट में रखो।

६. किसी के जामिन बनने से पहले, उसे अच्छी तरह जान लो।

७. एक-एक पाई का पक्का हिसाब रक्खो।

८. वक्त के पाबन्द रहो, जब जिससे मिलना हो, उनसे उसी वक्त मिलो।

९. जितना कर सकते हो, उससे ज्यादा की उम्मीद न दिलाओ।

१०. सच्चे बनो, इसलिए नहीं कि इसमें फायदा है।

११. जो कुछ करना है, आज ही कर लो।

१२. सफलता का ही विचार करो, उसी की बातें करो, और तुम देखोगे कि तुम सफल होते हो।

१३. शरीर और आत्मा की अपनी ताकत पर ही भरोसा रखो।

१४. कड़ी मेहनत से कभी न शरमाओ।

१५. साफ बात कहने में संकोच मत करो।

: ८ :

अग्नि-परीक्षा

प्रिय ईश्वर,

कभी कभी जीवन में ऐसे प्रसंग आ जाते हैं जब यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि अमुक दो मार्गों में से कौनसा ग्राह्य है और कौनसा अग्राह्य। ऐसे समय आदमी धर्म-संकट में पड़ जाता है और प्रतीत होने लगता है कि वह अपने को किसी एक निर्णयपर आने में असमर्थ पाता है। भगवान रामचंद्र ने केवल एक धोबी के प्रवाद से सीता को बनवास दे दिया। रामचंद्र के लिए इस से बढ़कर दुविधा या धर्म-संकट का अवसर दूसरा नहीं हो सकता था। सीता जैसी पवित्र और साध्वी धर्मपत्नी को रावण के पंजे से मुक्त करने में जिस राम को वर्षों तक भयानक आपत्तियों और परेशानियों का सामना करना पड़ा वही राम किसी सामान्य व्यक्ति की चर्चा से प्रभावित होकर सीता को घर से निकाल देता है। क्या राम नहीं जानते थे कि सीता पवित्र है, निष्कलंक है और उनके जीवन का एक मात्र अंग है ? पर उन्होंने देखा कि यद्यपि सीता को घर में रखना धर्म है तयापि जन-प्रवाद को शांत करने के लिए उन्होंने यह सब कुछ किया। अर्जुन का भी यही हाल हुआ। कुरुक्षेत्र के मैदान में अपने संबंधियों, बंधुओं और गुरुजनों को देख जब वह कर्तव्य और अकर्तव्य की दुविधा में फँस गया तब कृष्ण को गीता के रूप में उसका मार्गदर्शन करना पड़ा।

ऐसी दुविधाएँ हर व्यक्ति के जीवन में आया करती हैं लेकिन उनका हल अपनी अपनी बुद्धि और योग्यतानुसार होता रहता है। जो महान् होते हैं वे निजी स्वार्थों से ऊपर उठकर व्यक्तिगत आपत्तियां झेलकर भी लोकहित की दृष्टि से निर्णय करते हैं। सामान्य स्थिति के लोग प्रायः अपने स्वार्थों तक ही सीमित रहते हैं। महापुरुषों की गाथाएँ सैंकड़ों और हजारों वर्षों तक आदर और श्रद्धा से गाई जाती हैं क्योंकि वे वैयक्तिक मोह और स्वार्थ से दूर रहकर कर्त्तव्य का पालन करते हैं।

जमनालालजी बजाज के जीवन में भी इस तरह के कई प्रसंग आए थे। यहाँ मैं उनके व्यक्तित्व और देशहित से संबंध रखनेवाले एक प्रसंग का उल्लेख कर रहा हूँ। यह प्रसंग बड़ा दुविधापूर्ण था। एक ओर उनके सामने व्यक्तिगत भावना थी और दूसरी ओर देश और कांग्रेस के हित का सवाल था।

सन् १९२१,३० और ४२ में कांग्रेस के तीन बड़े आंदोलन हुए। इन आंदोलनों के पश्चात् देश में जो प्रतिक्रिया निर्माण हुई उस में गांधीजी, कांग्रेस और उसके अनुयायियों को बदनाम करने की, उनकी निंदा करने की प्रवृत्ति दिखाई देने लगी थी। १९२१ के आंदोलन के पश्चात् कई लोग गांधीजी को भला-बुरा कहकर नेता बन गए। यही बात १९३३ के बाद हुई क्यों कि तब तक तो आंदोलन ही चलता रहा था। आन्दोलन के पश्चात् कुछ प्रतिक्रियावादी लोग यह बर्दाश्त नहीं कर सके कि कांग्रेस और गांधीजी की प्रतिष्ठा हो। उन लोगों को सत्याग्रह मे

तो भाग लेना नहीं था और गांधीजी की विचारधारा के विरुद्ध भी थे, इसलिए अलग से हिन्दू-महासभा आदि स्थापित कर हर तरह से कांग्रेस और गांधीजी को बदनाम करना और गालियाँ देना शुरू किया। यह कार्य खासकर महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश के एक वर्ग ने ही अधिक प्रमाण में किया। सब से अधिक प्रतिक्रिया इन्हीं लोगों में पैदा हुई। उन दिनों गांधीजी वर्धा रहने लग गए थे। गांधीजी की हर प्रवृत्ति में जमनालालजी सहायक रहते थे। इसलिए वर्धा के आसपास का वातावरण कांग्रेस, गांधीजी और जमनालालजी की झूठी, अप्रामाणिक और भद्दी निंदाओं, गालियों से व्याप्त होता गया। ऐसे समाचार-पत्र भी प्रकट हुए। इनका काम लोगों की नजरों से कांग्रेस और कांग्रेसियों को गिराने का ही रह गया था।

यह प्रतिक्रिया क्यों जाग्रत हुई? देश में एक ऐसा वर्ग था जिसके लिए राष्ट्रीय आंदोलन एक मनोरंजन की वस्तु थी। गांधीजी के प्रत्यक्ष सत्याग्रह और जेल जाने आदि की प्रवृत्तियों में भाग लेना तो उनके लिए कठिन पड़ता था। वे तो केवल समय-बेसमय व्याख्यानों और लेखों द्वारा जनता को उभाड़ देते थे। जनता तो हमेशा कुछ न कुछ ठोस और रचनात्मक कार्य चाहती है। जब ऐसी कोई प्रवृत्ति न देखकर जनता पर से इन प्रतिक्रियावादियों का प्रभाव नष्ट होने लगा तो उन्होंने प्रति-सहकारितावादियों के पक्ष की हिन्दू महासभा, स्थापित की। और ये लोग चाहे जैसी असंयमित और अप्रामाणिक बातें इसलिए लिखने लगे कि

कांग्रेसी और गांधी विचारधारा के लोग उनपर किसी प्रकार की कार्रवाही तो करेंगे ही नहीं। जब उन्हें इस बात का डर नहीं रह गया तो वे निःसंकोच भाव से लिखते चले।

जमनालालजी बजाज कांग्रेस के कोषाध्यक्ष थे। उन्होंने कॉंग्रेस की तन से ही सेवा नहीं की, पर समय समय पर दिल खोलकर अपनी सेवाओं के साथ-साथ धन भी खर्च किया था। साथ ही सब के साथ उनका व्यवहार अत्यन्त प्रेमपूर्ण था जिसके कारण उनकी प्रतिष्ठा और कीर्ति न केवल मध्यप्रदेश, बल्कि देशभर में फैल गई थी। लेकिन जो प्रतिक्रियावादी लोग थे उन्हें यह कब सहन हो सकता था। उन्होंने सोचा कि यदि कांग्रेस को लोगों की नजरों से गिराकर उसे प्राप्त होनेवाली सहायता का स्रोत बंद कर दिया जाय तो कांग्रेस का कार्य रुक जायगा और सन् '३७ में जो प्रांतीय मंत्रि-मंडलों का चुनाव होने वाला है उस में कांग्रेस चुनकर नहीं आ सकेगी। इसलिए उन्होंने जमनालालजी को अपना लक्ष्य बनाया और प्रचार करना शुरू किया कि जमनालालजी ने कांग्रेस के धन का दुरुपयोग किया है। उस समय की स्थिति को देखते हुए पं० जवाहरलाल नेहरू ने जो वक्तव्य प्रकाशित किया था वह यहां दिया जा रहा है:—

Statement of Pandit Nehru

"There is something ludicrous about this sudden interest in old accounts, long passed and audited and put away in our archives and this new interest becomes still

more curious when we find that it is exhibited by gentlemen some of whom confess to not having contributed at all any Congress fund.

DONORS ARE CONTENT.

The donors are content but the eager public spirit of those who did not give anything cannot be suppressed. I do not know if we are expected to produce for the benefit of these eager spirits all our accumulated account books for the last fifteen years or get them printed afresh. As I have previously stated, all our central accounts have been carefully audited from year to year and circulated to the press for public information. These accounts contained also audited statements of provincial accounts which had been inspected periodically by our auditors and inspectors. Upto 1925 a big volume containing these full accounts was issued to the public and the press. By the end of 1925 original collections for the Tilak Swaraj Fund were practically exhausted except for large sums earmarked for specific purposes and some trust funds.

Our accounts therefore from 1926 onwards became much simpler and more modest, and thus it was not necessary to issue annual big books of account which had been prepared till then. From then onwards briefer statements of accounts were prepared audited and submitted to the A. I. C. C. for approval and issued to the press.

TRIBUTE TO BAJAJ.

I, as one long connected with the A. I. C. C. office, express my gratitude to and admiration for our

treasurer, Seth Jamnalal Bajaj and his office for the efficient way in which they have kept the A. I. C. C. accounts and looked after the Congress funds during these many years, many of which were difficult years of storm and stress. Seth Jamnalal Bajaj informs me that he and his office will be happy to give any information about Congress accounts to any donor who addresses himself to them. They will also welcome personal visits of donors to their office at 395, Kalbadevi Road, Bombay, where all old and new accounts of the Congress Office can be inspected and inquiries made. Donors interested in knowing how the earmarked items of the Tilak Swaraj Fund (about fifty lakhs) were distributed and what part of them is still represented in stocks and immovable property can easily find this out from the Treasurer's Office or by personal reference to the accounts and papers. But every such visit of inspection should take place after reasonable notice and during office hours.

WARNING TO MALICIOUS CRITICS.

The Treasurer's office as well as our office will always be happy to reply all "bonafide" enquiries and place information at their disposal before all Congressmen and donors. But it is clear there is no such "bonafide" intent behind the attacks and insinuations made by some people who are neither Congressmen nor donors to the Congress fund. It is not the practice of the Congress to rush to a court of law even though there may be sufficient justificaton for this. But if malicious and defamatory statements continue to be made they will have to be challenged in a law court."

यों तो व्यक्तिगत रूप में उनपर कईबार अनेक लोगों ने झूठे तथा निराधार आक्षेप लगाए, लेकिन इन सबकी परवाह उन्होंने नहीं की। वे नहीं चाहते थे कि किसी भी व्यक्ति को उनके कारण दुख या तकलीफ हो। वे पूर्णतः क्षमा के अवतार थे। परंतु चूंकि यह प्रश्न व्यक्तिगत नहीं था और कांग्रेस जैसी राष्ट्रव्यापी संस्था की प्रतिष्ठा का था, इसलिए उन्होंने मानहानि का मुकदमा दायर कर ही दिया। यद्यपि ऐसा करना उनकी वृत्ति के अनुकूल नहीं था और न वे किसी के प्रति दुर्भावना ही रखते थे, तथापि विवश होकर कांग्रेस की प्रतिष्ठा और उसके हिसाब की प्रामाणिकता के लिए यह कदम उठाना ही पड़ा। मुकदमा करने के पूर्व उनके मन में कई तरह के द्वंद्व चलते रहे और अपने कई मित्रों से सलाह-मशविरा भी किया। कई लोगों ने यह भी सलाह दी कि व्यावहारिक दृष्टि से यह कार्य घाटे का ही रहेगा इसलिए मुकदमा नहीं करना चाहिए। लेकिन अंत में खूब सोच-विचार के पश्चात् अनिच्छापूर्वक भी अपना कर्त्तव्य समझकर उन्हें मुकदमा करना ही पड़ा। उनका पक्ष सत्य पर आधारित था और इस कारण वे जानते थे कि विरोधी पक्षवाले को निश्चित रूप से सजा मिलने वाली है—इससे उन्हें दुख भी काफी हुआ; किंतु वे यह भी जानते थे कि प्रश्न व्यक्ति का नहीं है—देश और समाज का है और ऐसा किए बिना सम्भव है देश की जो हानि होगी उसका जिम्मेदार मुझे ही बन जाना पड़े और शायद मेरी लापरवाही, कमजोरी और अप्रामाणिकता भी लोग मानने लगें। इसलिए उन्होंने देश और कांग्रेस के लिए यह कार्य किया।

वे सत्य के उपासक थे, साधन-शुद्धि में विश्वास करते थे। इसलिए जमनालालजी ने अपने वकीलों को शुरू से ही सावधान कर दिया था कि चाहे जो हो—हम हारें यहा जीतें—किंतु विरोधियों के साथ जो व्यवहार हो, जो प्रश्नोत्तर हों उसमें शिष्टता, सभ्यता और प्रामाणिकता की पूरी सावधानी रखनी चाहिये। इसमें वकीलों की पूरी कसौटी हुई। विरोधी पक्ष के वकील तो चाहे जैसे उलटे-सीधे, बेतुके और असम्बद्ध प्रश्न तक पूछते थे तथा चाहे जिस साधन का आश्रय लेते थे, और ऐसे वातावरण के बीच जमनालालजी के वकील चाहकर भी ऐसा नहीं कर सकते थे। यहाँ तक कि कांग्रेस-विरोधी लोगों ने संगठित होकर इस मुकदमे का सामना किया और कई वकील तो बिना फीस लिए भी कांग्रेस और जमनालालजी के विरुद्ध काम करने को आए। इस प्रकार के वातावरण में उनके वकीलों और मुनीमों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। लेकिन जमनालालजी निश्चिन्त थे। वे जानते थे कि विजय सत्य की ही होगी। उन्होंने अपना धीरज नहीं खोया। परिणाम वही हुआ जो होना था। विरोधियों को पराजित होना पड़ा और सजाएँ भी हुईं।

प्रतिवादियों की ओरसे जमनालालजी के बहीखातों की कड़ी जांच हुई और स्वयं जमनालालजी ने भी इसमें किसी प्रकार की आनाकानी नहीं की। उनका हिसाब पाई-पाई का पक्का था। उनकी बहीखाते रखने की पद्धति इतनी साफ थी कि वर्षों बाद देखने पर भी संतोष हो सकता है। यह उनकी व्यवहार-कुशलता का ही कारण था।

इस मुकदमे से सम्बंधित एक घटना का उल्लेख करना यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा।

एक सज्जन किसी समय आर्थिक संकट में आगए। जमनालालजी ने सहायता प्रदान कर उन्हें संकट से मुक्त करने का प्रयत्न किया। कुछ समय पश्चात् उक्त सज्जन को आँखों की बीमारी हो गई। दिखना बंद हो गया। वे पुनः सेठजी के पास आए। फिर सेठजी ने सहायता दी और इलाज कराने पर आँखों से दिखने लगा। लेकिन इन पर कर्ज काफी हो गया था। कर्ज उन्हें परेशान कर रहा था और उन्हें सूझ नहीं रहा था कि क्या किया जाय। आखिर जमनालालजी ने अपने मुनीम को उनके सब मामले निपटाने के लिए निजी खर्च से भेजा और कुछ समय तक वहां रहकर मुनीमजी ने सारा काम निपटा दिया। जमनालालजी के हिस्से में जो कुछ आया या आ सकता था उसकी लिखा-पढ़ी कर ली गई।

कुछ समय बाद जब मानहानि का वह मुकदमा चला, तब ये ही सज्जन विरोधी पक्ष की ओरसे वकील बनकर आए और बिना फीस लिए ही काम किया। जिरह में इन्होंने सेठजी से अशोभनीय और अशिष्ट प्रश्न पूछे। इस प्रवृत्ति से मुनीमजी को काफी दुख हुआ। वे आपे से बाहर हो गए। उन्होंने अदालत से बाहर होते ही उक्त सज्जन से कहा :— "अरे कृतघ्न, जरा उपकारों को तो याद कर। भस्मासुर की तरह अपने जीवनदाता को ही मारने को उद्यत हुआ है। लेकिन याद रख, इससे तू ही भस्म होगा।"

जमनालालजी को जब ज्ञात हुआ कि मुनीमजी ने उस वकील से ऐसी बात कही है तब वे मुनीमजी पर बहुत नाराज हुए। उन्होंने कहा कि "तुमने ऐसा कहकर ठीक नहीं किया है। एक तो किसी पर उपकार करो नहीं, और करो तो उसका बखान न करो। हम तो अहिंसा धर्मी हैं न! करो और भूल जाओ!"

सेठजी की मनोवृत्ति और व्यक्तित्व को समझने के लिए यह छोटी-सी घटना भी बहुत महत्त्व रखती है। वृत्ति में जो बात होती है वह छोटी-से-छोटी घटना में भी प्रतिबिंबित हो ही जाती है।

इस मुकदमे को हम अग्निपरीक्षा कह सकते हैं। इस घटना से तुम जान सकते हो कि महान् बनने के लिए व्यक्ति को छोटी-से-छोटी बातों में भी कितना सतर्क और शुद्ध रहना पड़ता है।

जमनालालजी इस अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और पहले से भी अधिक चमक उनके आगे के जीवन में निखर उठी।

: ९ :

अतिथि-सत्कार

प्रिय ईश्वर,

अबतक के पत्रों में मैंने प्रायः व्यापार और व्यवहार से संबंध रखनेवाली बातों की ही चर्चा की है। इस पत्र मे मैं एक ऐसे विषय की चर्चा कर रहा हूं जिसका सम्बन्ध जीवन के नैतिक स्तर और सेवा भावना से है। उसका नाम है अतिथि-सत्कार।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। अकेला वह रह नहीं सकता। एक दूसरे की सहायता, सहानुभूति, सौजन्य और सेवा-परायणता पर ही मानव प्राणी का जीवन निर्भर रहता है। पारस्परिक संबंधों में मधुरता और स्नेह रहे बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। अतिथि-सत्कार एक ऐसी सेवा-वृत्ति है जिसके द्वारा मनुष्य के संबंध बढ़ते और पुष्ट होते हैं।

संसार के प्रायः सभी धर्मों में अतिथि-सत्कार के महत्व को स्वीकार किया गया है। महाभारत में रतिदेव की कथा आती है। उसके यहां प्रतिदिन हजारों अतिथियों के लिए भोजन तैय्यार होता था। जैन और बोद्ध कथाएँ भी अतिथि-सेवा की गाथाओं से भरी पड़ी हैं। ईसाई और इस्लाम धर्मों में भी अतिथि-सत्कार पर जोर दिया गया है।

भोजन या आहार मनुष्य का जीवन है। उसके बिना वह जीवित रह नहीं सकता। वह एक ही स्थान पर बैठनेवाला मिट्टी का लोंधा भी नहीं है। वह सक्रिय प्राणी है और सृष्टि के चारों तरफ दौड़ने भागनेवाला प्राणी भी है। संघर्षों और संकटों में वह बार बार पड़ता रहता है और सफलता, असफलता का श्रेय बाँटता भी फिरता है। परदेश में, संकट में, विपत्ति में यदि उसे कोई सहारा मिल जाता है तो वह उस सहारे का अत्यंत उपकार मानता है। वह गद्‌गद हो उठता है। वह अपना सब कुछ समर्पित करने को तैय्यार हो जाता है।

मनुष्य की परिस्थितियों, विवशताओं, और मनोवृत्तियों का विचार कर प्राचीन ऋषि-मुनियों ने मानव-मानव को निकट लाने के लिए जिन-जिन नैतिक-भावनाओं का प्रचार किया, उनका महत्त्व प्रत्येक अनुभवी जानता है। मनुष्य की मनुष्यता इसी में है कि वह दूसरों को अपने समान समझकर अपने संपर्क में आनेवाले लोगों की सुख-सुविधाओं का ध्यान रखे। वह जो कुछ खाए पीए उसमें दूसरों का भी हिस्सा माने। जैन कथाओं में तो मिलता है कि एक सद्‌गृहस्थ अतिथिको या किसी साधु-संत को भोजन कराए बिना भोजन नहीं करता। इसमें उन लोगों को एक प्रकार का आनंदानुभव होता था। वे समझते थे कि जिस दिन किसी असहाय, निराधार या संकटग्रस्त को या किसी मेहमान को भोजन करा दिया जाता है वह दिन उनका पुण्य-दिन होता था।

किसी व्यक्ति का कोई काम कर देने, उसकी सहायता कर देने या सहानुभूति प्रकट करने आदि का जो प्रभाव नहीं पड़ता वह किसी को भोजन कराने का पड़ता है। आदमी शक्कर को भूल जा सकता है, पर नमक को नहीं। एक प्राचीन कहावत है कि 'नमक हराम नहीं होना चाहिए' जिसका अर्थ यही है कि एक बार जिसके चौके में बैठकर भोजन कर लिया जाता है उसके प्रति विश्वासघात करना 'पाप' माना जाता है।

प्राचीन समय में जब कि यातायात के इतने द्रुतगामी साधन नहीं थे और व्यावसायिक क्षेत्र भी अत्यन्त सीमित रहता था तब एक गाँव से दूसरे गाँव जाने में भी पर्याप्त समय लगता था और बीच में पड़ाव आदि तो काफी होते थे। ऐसे यात्रियों और यात्रा-संघों को गांववालों की ओर से सामूहिक या व्यक्तिगत रूप से भोजन दिया जाता था। इससे सम्बंध बढ़ता था, एक-दूसरे के सुख-दुख में वे साथी बनते थे। यह सामाजिक प्रवृत्ति 'त्याग' पर आधारित थी। जो समाज जितना ही त्याग की भावना पर खड़ा रहती है, उतना ही उसका महत्व और वजन रहता है।

कई लोग जो केवल आर्थिक भूमिका पर से ही बात करते हैं, वे कभी कभी कहा करते हैं कि आए दिन बाहर के लोगों को भोजन कराने में द्रव्य और समय तथा शक्ति सबका व्यय होता है। लेकिन उनका यह केवल भ्रम ही है। खिलाने-पिलाने से कभी किसी की सम्पत्ति नष्ट हुई है, ऐसा उदाहरण शायद ही कभी

देखने-सुनने में आया हो। इससे तो बल्कि मानसिक स्नेह और शक्ति की पूंजी ही बढ़ती है।

राजा श्रेयांस की कथा तो कर्म-युग की आदि से प्रसिद्ध है। भगवान् ऋषभदेव ने जब सर्व प्रथम संन्यास ग्रहण किया और योगी बनकर विचरण करने लगे, तब बारहमास के पश्चात् सर्व प्रथम उनका आहार राजा श्रेयांस के यहाँ ही हुआ था। वह वैशाख सुदी ३ का दिन था। उसे हम लोग अब अक्षय-तृतीया कहते हैं। यह पर्व भारत का बहुत पुराना है। यह बताता है कि हमारी संस्कृति खिलाकर प्रसन्न होने के गौरव को धारण किए है।

एक कथा है कि एक राजा शिकार के लिए बन में भटक गया। वह रास्ता भूल गया और दिग्भ्रम में पड़ गया। दौड़-धूप और परिश्रम के कारण काफी थक गया और भूख भी जोर की लग रही थी। संध्या हो चुकी थी, मार्ग बीहड़ था, रास्ता चूक गया था, घर पहुँचना सरल नहीं था। उसे नजदीक-पास एक झोपड़ी में दीपक टिमटिमाता हुआ दिखाई दिया। वह वहाँ पहुँचा। झोंपड़ी में एक बुढ़िया रहती थी। वह गरीब थी, परिश्रम से अपना पेट भरती थी। घी, दूध, शक्कर और गेहूँ तो उसके भाग्य में था ही कहाँ। राजा वहाँ पहुँचा। उसके अस्तव्यस्त वेश के कारण तथा अंधेरा होने से वह राजा को पहचान न सकी और यों राजा को पहचानता ही कौन है। बुढ़िया ने अपने लिए रोटियाँ बना रखी थीं। आगन्तुक को भूखा जानकर उसने वे रोटियाँ और वन्य पत्तियों का शाक खिला दिया। भूखमें बुढ़िया का यह रूखा सूखा

भोजन भी राजा के लिए अमृत बन गया। वह बुढ़िया के प्रेम-पूर्ण भोजन को पाकर गद्‌गद् हो गया। इतना ही नहीं, कहते हैं उसने अपने कुछ गाँव भी बुढ़िया को देना निश्चित कर लिया।

मतलब यह कि खिलाने-पिलानेवाले उदार व्यक्ति से सब स्नेह करते हैं। वे तो अपना कर्त्तव्य समझकर निरपेक्ष भाव से कार्य किए जाते हैं।

स्व० जमनालालजी ने भी इस युग में अतिथि-सेवा का बहुत बड़ा आदर्श हमारे सामने रखा है। वे राजनीति के नेता थे, देश के एक बड़े व्यापारी थे, उनका स्नेह-सम्बंध भी देश में फैला हुआ था। इसलिए उनके यहाँ सब तरह के लोग मेहमान के रूप में निरंतर आया ही करते थे। कांग्रेस का तो प्रत्येक कार्यकर्त्ता उन्हींके यहाँ ठहरता था। सब के खाने-पीने, ठहरने आदि की सुव्यवस्था के लिए उन्होंने बजाजवाड़ी में अतिथि-गृह बनवाया था। अतिथि-गृह का महंगाई के पूर्व प्रतिवर्ष का खर्च लगभग बीस हजार रुपया था। इस कार्य के लिए एक व्यवस्थापक नियुक्त था और वे स्वयं भी इसका पूरा ध्यान रखते थे। वे अतिथि को भगवान् स्वरूप मानकर उसकी सेवा करते थे। अतिथि को किसी भी प्रकार का कष्ट या असुविधा न हो। इस बात की पूरी सावधानी रखते थे।

जिस दिन उनका स्वर्गवास हुआ, उसी दिन उन्होंने मुझसे अतिथि-गृह की व्यवस्था के बारे में करीब दो घंटे तक चर्चा की। बात यह हुई कि उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री पं० गोविंदवल्लभपंत

की पशमीना शाल वहां से चोरी चली गई थी। जमनालालजी तो उन दिनों गो-पुरी की अपनी कुटिया में रहा करते थे। लेकिन जब उन्हें यह बात मालूम हुई तो उन्हें काफी दुख हुआ। वे यह कदापि बर्दाश्त नहीं कर सकते थे कि उनके यहाँ आए हुए मेहमान या अतिथि की कोई भी वस्तु चोरी चली जाय या खराब हो जाय या किसी की सेवा में असावधानी या लापरवाही बरती जाय।

उस दिन चीन के प्रमुख च्यांगकाई शेक वर्धा आनेवाले थे और उनकी व्यवस्था के सम्बंध में वे मुझसे कुछ बातें कहना चाहते थे इसलिए गो-पुरी से बजाजवाड़ी आए। लेकिन जब मालूम हुआ कि सरकार नहीं चाहती कि वे वर्धा जाकर बापू से मिलें इसलिए उन्हें अपना वर्धा का कार्यक्रम स्थगित कर देना पड़ा है; तब उन्होंने 'शाल' के प्रकरण को लेकर चालू व्यवस्था-सम्बंधी कमियों को दूर करने के सम्बंध में चर्चा की।

उन्होंने कहा : "अपने यहाँ आनेवाले मेहमानों को पूरा आराम दिया जाना चाहिए। उनकी कोई भी वस्तु इधर-उधर नहीं होनी चाहिए क्योंकि यहां से किसी वस्तु की चोरी होना अपने लिए शर्म की बात है। यहाँ पर जो लोग रहें, उनकी परीक्षा कर लेनी चाहिए, वे पूरे प्रामाणिक होने चाहिए। बाहर से कम वेतन में, बचत के खयाल से, जो ऐसे-वैसे लोग बुलाकर रख लिए जाते हैं, उनकी अपेक्षा परखे हुए—जाने-बूझे कार्यकर्त्ताओं के लिए थोड़ा अधिक खर्च भी उठाना पड़े तो आपत्ति नहीं

किंतु किसी के सामान की चोरी बर्दाश्त नहीं की जा सकती। हमारे यहां ऐसे ऐसे लोग आते हैं जिन्हें यदि उनके सामान की कीमत दी जाय तो वे स्वीकार नहीं करेंगे, किंतु उस नुकसान को सहन करने में भी असमर्थ होते हैं। मेहमानों से यह तो निःसंकोच रूप से कह ही देना चाहिए कि वे अपनी जोखम की चीजें—रुपए पैसे दफ्तर में जमा करा दें या सम्हाल कर रखें। जब कभी अधिक मेहमान आ जायं तो एक आदमी की नियुक्ति इसीलिए की जाय कि वह यह देखता रहे कि अहाते में कोई ऐरा-गैरा आदमी तो नहीं आ रहा है। मेहमानों के बाहर निकलने पर वह पहरा दिया करे।

खान-पान के विषय में इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि भोजन सात्विक, स्वास्थ्यप्रद और शुद्ध हो। सारी सामग्री ग्रामोद्योग की ही उपयोग में लाई जाय, दूध और घी भी गाय का ही हो। प्रत्येक आदमी के भोजन के साथ प्रतिदिन आधा-सेर से तीन पाव तक दूध, तीन तोला घी, सवा तोला तेल, ताजी सब्जी, मौसम्बी और स्थानीय फल होने चाहिए।

भोजन में प्रातःकाल दाल, भात, गेहूं के फुलके, ज्वारी की रोटी और दो शाक—एक पत्ता-भाजी और दूसरा फल-शाक—रहे, दाल, छाछ, या दही तथा एक चटनी भी रहे। साथ ही कच्ची चीजों का सलाद और पापड़ भी रहना चाहिए। संध्या को खिचड़ी, फुलके, दो शाक, चटनी और कढ़ी रहे। दूध और फल दोनों बार के भोजन के बाद देने चाहिए। पापड़ तो रहना ही चाहिए।

सुबह के नाश्ते में दूध, चाय, फल और चिवडा रहना चाहिए।

मिर्च-मसाले अधिक न डाले जायं पर सामग्री शुद्ध और स्वादिष्ट बने।"

पक्वान्न और तली हुई चीजें वे पसंद नहीं करते थे। फिर भी कभी कभी पकौड़ी आदि बनाई जाती थी। मीठी चीजों में भी उन्हें गरिष्ठ वस्तुएं पसंद नहीं थीं। मीठी वस्तुओं में दलिया आदि वे उचित समझते थे। झूठे बडप्पन और प्रतिष्ठा के लिए खान-पान में वे फिजूलखर्ची द्वारा होनेवाली मेहमानदारी को वे पसंद नहीं करते थे। सादा, स्वास्थ्यप्रद और मौसम तथा प्रकृति के अनुकूल भोजन करने तथा कराने के वे हिमायती थे। उनके सामने प्रश्न खर्च का तो था ही नहीं, और गाय के घी-दूध में खर्च कम होता ही नहीं था, फिर भी उनका इस विषय में अपना दृष्टिकोण था। और उसीके अनुसार वे कार्य करना उचित समझते थे।

भोजन में अतिथियों की रुचि का पूरा खयाल रखा जाता था। उनका अतिथि-गृह ऐसा नहीं था कि एक लीक पर एक जैसा कार्य चल रहा है जिसे खाना हो खा जाओ, न खाना हो न खाए। पं० जवाहरलालजी के लिए रूखा फुलका, मक्खन और आलू का शाक, मौलाना आज़ाद के लिए मोटी रोटी, राजाजी के लिए इमली का रसम, खान अब्दुलगफारखाँ के लिए खिचड़ी में गर्म घी रहना चाहिए आदि बातों की पूरी सावधानी रखने की हिदायतें देते रहते थे। वे स्वयं भी इस मामले में काफी रस लेते थे।

बड़े-बड़े और प्रतिष्ठित मेहमानों का ध्यान तो सभी रखते हैं, लेकिन जमनालालजी में यह भेद-भाव नहीं था। मेहमान छोटा हो या बड़ा, धनी हो या गरीब, बुद्धिमान् हो या साधारण, उनके यहाँ पंक्ति में और भोजन में अंतर नहीं होता था। बल्कि सच कहा जाय तो वे छोटे-छोटे कार्यकर्त्ताओं का अधिक आदर करते थे और उनका ध्यान रखते थे। वे कहा करते थे कि वस्तुतः ये सामान्य और छोटे कार्यकर्त्ता ही कार्य के प्राण होते हैं जो कम से कम लेकर अपना जीवन अर्पण करते हैं। एक घटना से तुम जान सकोगे कि वे छोटे-छोटे कार्यकर्त्ताओं का भी कितना खयाल रखते थे।

एक दिन नागपुर के जनरल आवारी करीब १२॥ बजे वर्धा पहुँचे। बजाजवाड़ी गए। स्नान आदि करने में १॥ बज गया। भोजनालय में ११ बजे पहली पंक्ति बैठ जाया करती थी। अधिक मेहमान होते तो दूसरी पंक्ति भी करीब १२ बजे समाप्त हो जाती। उनके आने के पूर्व चौका उठ गया था। पर आते ही जमनालालजी ने रसोइये से कह दिया था। रसोइये का ऐसा प्रबंध था कि जब भी मेहमान आए और जैसा भोजन चाहे, बना देना चाहिए। उस दिन रसोइया ने ११ बजे बनाकर रखा हुआ ठण्डा भोजन ही उन्हें परोस दिया। जमनालालजी आराम करके उठे और रसोइये से आवारीजी के भोजन के बारे में पूछा। उसने कहा कि वे भोजन कर रहे हैं। जमनालालजी उठकर उन्हीं के पास पहुँच गए। सुबह की बनी ठण्डी चीजें थाली में देखकर उन्हें काफी वेदना हुई। उस समय तो वे कुछ न बोले

लेकिन बाद में रसोइया से पूछताछ की। उन्होंने पूछा : "क्या कोई बड़ा नेता होता तो तुम ऐसा ही भोजन सामने रख देते? मेरे पास रहकर और मेरे विचारों से परिचित होकर भी तुमने यह भूल की, इसके मूल में मैं अपने को ही दोषी पाता हूँ।" और उन्होंने एक दिन का उपवास किया।

वे चाहते तो अपने रसोइये को डांट सकते थे और नौकरी से पृथक् भी कर सकते थे। लेकिन वे इस पद्धति को उचित नहीं समझते थे। तुमने पिछले पत्रों में देखा होगा कि नौकरों के साथ भी वे परिवार के लोगों जैसा ही व्यवहार करते थे। उन्हें वे अपना ही समझते थे। भले ही बहुत-से लोग यह मानें कि नौकरों को डांट-फटकार कर वे नौकरों से अधिक काम ले सकते हैं और नौकर बिना डांट-डपट के काम कर ही नहीं सकते; पर वे प्रेम से ही बहुत-कुछ करवाते थे और उनकी कठिनाइयों का ध्यान रखते थे। यही कारण है कि उनके पास रहनेवाला हर व्यक्ति उनकी याद करता रहता है। वे आदमी को नौकर नहीं, पुत्र मानते थे और उसके विकास का पूरा ध्यान रखते थे।

वे इस बात का भी ध्यान रखते थे कि बिना प्रयोजन किसी भी नौकर को कष्ट नहीं दिया जाना चाहिए। भोजन के समय में अनियमितता रहने से रसोइये को कष्ट होता है, इसे वे जानते थे। इसीलिए उन्होंने भोजन करने का समय निश्चित कर दिया था। ग्यारह बजे बराबर दोपहर के भोजन की घंटी हो जाया

करती। चाहे जितना बड़ा नेता हो, समय पर भोजन के लिए न आने पर वे उलहना दिए बिना नहीं रहते थे—यद्यपि उनका कहने का ढंग विनोदपूर्ण होता था।

जमनालालजी चरखा-संघ के अध्यक्ष थे। एकबार वर्धा में चरखा-संघ की बैठक हुई। श्री शंकरलाल बैंकर चरखा-संघ के मंत्री थे। इस बैठक में देश के प्रमुख नेता आए थे जिनमें पं० जवाहरलालजी, डा० राजेंद्रप्रसादजी, सरदार वल्लभभाई, राजाजी आदि भी थे। ठीक ग्यारह बजे भोजन की घंटी बजी। सब लोग समय पर पहुँच गए। लेकिन शंकरलालजी बैंकर को आने में कुछ देर लग गई। जमनालालजी अक्सर भोजन के अवसर पर उपस्थित रहा करते थे। क्योंकि ऐसे ही अवसर पर सब से जी खोलकर प्रेम से बातें की जा सकती थीं। बैंकर साहब को लक्ष्यकर जमनालालजी ने पंडित जवाहरलालजी से कहा :

"पंडितजी, अभीतक हमारे मंत्री साहब का साहबी पन नहीं गया है। यों तो आजकल आप पहले की अपेक्षा बहुत-कुछ साहबी कम कर चुके हैं, किंतु पुरानी आदत नहीं छूटती इसलिए खादी पहनते हुए भी साज-शृंगार में समय लग ही जाता है। लेकिन पहले जब आप शूट-बूट में बापू से मिलने साबरमती आया करते थे तब जनाब के लिए कुर्सी मंगवानी पड़ती थी और हमें उनके सामने चटाई पर बैठना पड़ता था। उस समय इनकी अकड़ देखते ही बनती थी।"

तुरंत ही शंकरलालभाई बोल उठे : "पंडितजी, महात्माजी के पास धन या सन्तति मांगनेवाले तब कई आया करते थे। मैं समझता था कि पगड़ी बांधकर आनेवाला यह बनिया भी शायद ऐसी ही गरज से आता होता। मुझे क्या मालूम था कि एक दिन यह बनिया प्रेसिडेण्ट बनेगा और मैं उसका मंत्री।"

जमनालालजी ने अतिथि-सेवा द्वारा अपना पर्याप्त जीवन-विकास किया था। उन्हें कई प्रकार के विचारोंवाले लोगों की अतिथि-सेवा करने का, उनके सम्पर्क में आने का, उनके अनुभवों को सुनने का मौका मिला है। सच पूछा जाय तो कहा जा सकता है कि कांग्रेस ने जो देश-सेवा की है, उसका बहुत-कुछ श्रेय जमनालालजी की अतिथि-सेवा को भी है। अनुभवी नेताओं, ज्ञानियों, संतों से वे सीखते और बच्चों आदि के लिए खेल का आयोजन भी रचते थे। जिन्हें आवश्यकता होती, सलाह—मशविरा भी करते, मार्ग-दर्शन भी करते।

वे अपने अतिथियों को केवल शारीरिक आराम ही नहीं पहुंचाते थे; लेकिन मानसिक और नैतिक लाभ भी पहुंचाने का प्रयत्न करते थे। अतिथियों को शहर की दूसरी संस्थाएँ बताना, उनकी प्रवृत्तियों का परिचय कराना, कार्यकर्त्ताओं से परिचय कराना आदि भी उनके मुख्य कार्य थे। वे स्वयं भी उनकी प्रवृत्तियों और कार्यों का परिचय प्राप्त करते और अधिक से अधिक सम्पर्क स्थापित करते थे। वास्तव में यह सब वे अपने स्नेह-सम्बंधों को बढ़ाने के लिए करते थे।

अतिथि-सत्कार पारस्परिक सम्बंधों को विकसित करने और व्यापक बनाने का एक पवित्रतम साधन है। यह भारतीय संस्कृति की आत्मा है। इस सेवा-भावना में साम्ययोग की शिक्षा भी समाई हुई है। अतिथि-सत्कार में सब से बड़ी एक बात यह है कि आदमी अपने दैनिक जीवन के भोग्य में से कुछ हिस्सा दूसरे को भी प्रदान करे और इस तरह अपनी वस्तुको सब की समझने का प्रयत्न करे।

कुछ लोग अब भी भोजन में से कुछ भाग भिक्षु, गाय आदि पालतू जानवर तथा मंदिरों के सेवकों के लिए रखते हैं। यद्यपि आज यह बात बहुत कुछ अंशों में रूढ़ि मात्र ही रह गई है, पर उसका अन्तर्रहस्य बड़ा मधुर है।

जमनालालजी ने अतिथि-सत्कार को अपने जीवन का एक मुख्य अंग बना लिया था और उन्होंने उसका बराबर ध्यान रखा। भारतीय इतिहास में जमनालालजी की यह सेवा चिर स्मरणीय रहेगी।

: १० :

निर्भयता और स्पष्टवादिता

प्रिय ईश्वर,

जीवन-निर्माण और जीवन-विकास में निर्भयता और स्पष्ट-वादिता का बहुत ही महत्त्व है। निर्भयता और स्पष्टवादिता का जोड़ा है। जो मनुष्य प्रामाणिक, सदाचारी और सरल प्रकृति होता है वह साहसी और साफ साफ कहने में समर्थ होता है। तुम्हें मालूम है कि जैनधर्म में अहिंसा को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। जो सच्चा अहिंसक होता है वह वीर होता है। कहा भी गया है कि क्षमा वीर का भूषण है। जो प्रामाणिक नहीं होते, सदाचारी और सरल प्रकृति के नहीं होते, जो बात-बात में अधीर, क्रुद्ध और उत्तेजित होते रहते हैं वे वीर नहीं होते, न उनमें किसी प्रकार का साहस ही रहता है। सीधे शब्दों में वे कायर होते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि भय हिंसा है और वह स्पष्टवादी नहीं हो सकता जिसके जीवन में सचाई और सरलता ने स्थान नहीं पाया है।

कभी-कभी मुलाहिजे या संकोच में आकर आदमी स्पष्ट बात कहने में आनाकानी करता है या अपने भाव को दबाता है या जो कुछ वह कहता है उसे घुमा फिराकर इस प्रकार कहता है मानो वह सामनेवाले को प्रसन्न रखने के लिए गोल-मोल बात कर देना चाहता है ताकि उसकी बात समझ में न आ सके और वह

पारस्परिक मन मुटाव से बच जाय। लेकिन ऐसा करनेवाला अधिक समय तक यश और मैत्री का सुख नहीं लूट सकता।

महाराष्ट्र के महान् संत तथा विद्वान ज्ञानेश्वर महाराज ने अपनी ज्ञानेश्वरी (गीता का सर्वप्रथम मराठी भाष्य) में सात्विक गुणों की चर्चा में निर्भयता को सर्वप्रथम स्थान दिया है और उसकी सुंदर चर्चा की है। वस्तुतः भयभीत आदमी कुछ कर ही नहीं सकता, उसका जीवन भी मृत्यु के समान ही समझना चाहिये।

लेकिन ऊपर जिस निर्भयता और स्पष्टवादिता का उल्लेख किया गया है वह आत्मिक ही हो सकती है। हाथ में शस्त्र, जेब में पैसा और मुंह में गाली तथा शरीर में बल रखकर जनता के सामने जिस निर्भयता का प्रदर्शन किया जाता है, वह निर्भयता नहीं, एक प्रकार का आतंक है जो अपने आपमें भीरु होता है। आत्मीय निर्भयता ही जीवन-विकास में सहायक हो सकती है। जो दूसरों को अभय नहीं दे सकता वह स्वयं भी निर्भय नहीं रह सकता, यह असंदिग्ध बात है।

जैन तीर्थंकर आत्म-विश्वास और आत्म-जाग्रति के महान और सर्वोत्कृष्ट उदाहरण माने गए हैं। उनकी स्तुति में एक कवि ने बहुत ही मार्मिक युक्ति प्रस्तुत की है। वह कहता है :

> जो कुदेव छवि हीन, वसन भूषन अभिलाखै।
> बैरी सौं भयभीत होय, सो आयुध राखै॥
> तुम सुन्दर सर्वांग, शत्रु समरथ नहिं कोई।
> भूषण वसन गदादि, ग्रहण काहे को होई॥

—भूधरदास

अर्थात् शत्रु आदि वही अंगीकार करता है जिसे दूसरों की ओर से भय की आशंका होती है। परिपूर्ण निर्भयता दूसरों को भी अभय देती है। बहुत से लोग बारबार कहते हुए पाये जाते हैं कि 'मैं साफ-साफ कहनेवाला हूँ, मैं स्पष्टवक्ता हूँ, मुझे जनता की निंदा की परवाह नहीं है आदि।' लेकिन अधिकतर यही लोग अस्पष्ट और भीरु बन जाते हैं। वे बारबार कहते हैं, इसीका अर्थ है कि उन्हें अपनी निर्भयता और स्पष्टता के प्रति शंका है।

मनुष्य स्वार्थ, लोभ, मोह, पद, प्रतिष्ठा या लोक-लाज के कारण भी स्पष्ट बात करने में भय खाता है। 'मैं ऐसा कहूँगा तो लोग क्या करेंगे, मेरा क्या होगा' इस प्रकार सोचने में ही मन की दुर्बलता छिपी रहती है।

आज कल हमारे व्यापारी-समाज में भी कायरता या भीरुता अत्यधिक आ गई है। यह जरूर है कि व्यापारी लोग अहिंसाधर्म के अनुयायी हैं और बात-बात में वे अहिंसा की दुहाई भी देते रहते हैं, किंतु उनकी अहिंसा केवल जीव-जंतुओं को न मारने तक ही रह गई है—निर्भय और अभय वृत्ति निकल गई है। एक बार गांधीजी ने कहा था कि कायरता तो हिंसा से भी भयानक होती है। जो स्पष्टवादी होता है उसके भीतर प्राय: विरोध और प्रतिकार की भावना या गाँठ नहीं होती। अपनी असमर्थता को छिपाने के लिए ही लोग निष्क्रियता को अहिंसा कह दिया करते हैं।

प्राय: यह देखा गया है कि धनी परिवारों के लड़के तो प्राय: भीरु और असाहसी ही होते हैं। ज़रासा भी कठिन, या साहस का

प्रसंग आने पर वे कांपने लगते हैं। वे अपने से असमर्थों पर प्रभाव स्थापित करने के लिए उन्हें आतंकित करते रहते हैं, किंतु स्वयं से समर्थ के मिलते ही गिड़गड़ाने लगते हैं और भीगी बिल्ली बन जाते हैं।

जमनालालजी बजाज यद्यपि वैश्य-कुल और व्यापारी-समाज के अंग थे तथापि उनमें बचपन से ही निर्भयता के संस्कार पड़ गए थे। अक्सर शरीर-श्रम करनेवाले और कठिन प्रसंगों का स्वागत करने वाले निर्भय होते ही हैं। जमनालालजी का जन्म मारवाड़ के एक गांवड़े में हुआ था और परिवार की आर्थिक हालत वैभव और विलास के अनुकूल नहीं थी। तभी से निर्भयता का संस्कार उनमें निर्माण हुआ, और वह धनी परिवार में आने के बाद भी विकसित ही होता रहा। यहां उनकी निर्भय वृत्ति की कुछ घटनाएँ दी जा रही हैं। इनसे तुम समझ सकोगे कि ऐसा साहस बिरले ही लोगों में पाया जाता है। घटनाएँ इस प्रकार हैं—

"सन् १९०२ में एकबार आप उत्तर भारत में यात्रा कर रहे थे। हरद्वार से आते समय आप लुकसर स्टेशनपर सेकण्ड क्लासमें बैठने को गए तो देखा कि उसमें तीन फौजी गोरे बैठे हुए हैं। वे किसी हिन्दुस्थानी को भीतर आने ही नहीं देते थे। देहरादून के एक वकील साहब भी बाहर खड़े थे। उनको भी कहीं जगह नहीं मिली थी। वे भी गोरों के डरसे भीतर घुसने का साहस नहीं करते थे। दिमाग में तो उनके कानूनी बल तो जरूर रहा होगा। पर शरीर और उसके साथ ही साथ हृदय का बल वे किसी युनिवर्सिटी

को गुरुदक्षिणा में दे चुके थे। गोरे एक तो गोरे, दूसरे शराब पीए, तीसरे बंदूक लिए; भला, उसका सामना वकील साहब कैसे कर सकते थे? जमनालालजी जब आए तो गोरों ने उन्हें भी धुड़क लिया। वकील साहब ने जमनालालजी को सम्मति दी कि चलिए साहब, कहीं ड्योढ़े दर्जे में बैठ रहें, ये लोग बड़े शैतान होते हैं, इनके साथ अपनी गुज़र नहीं। पर जमनालालजी तो किसी युनिवर्सिटी में अपना आत्मगौरव नहीं खो चुके थे। आपने स्टेशन मास्टर से शिकायत की। स्टेशन मास्टर भी अँग्रेज था; पर था भला आदमी। उसने आते ही गोरों से टिकट मांगा। गोरों के पास थर्ड क्लास का टिकट था। स्टेशन मास्टर ने उन्हें निकाल बाहर किया। वे सर्वेंट क्लास में जा बैठे। जाते-जाते वे धमकाते भी गए कि गाड़ी चलने तो दो हम तुम लोगों की खबर लेंगे। उनकी धमकी सुनकर जमनालालजी ने नौकर से कहा—जरा मोटा डंडा लाकर मेरे पास रख तो जाओ। नौकर गोरों के सामने ही एक मोटासा डंडा लाकर आपके पास रख गया। अब गोरों ने समझा कि हाँ, यह मनुष्य है। गाड़ी चली। पर गोरे न दिखाई पड़े। जमनालालजी तो सो गए पर वकील साहब का बुरा हाल था। रातभर उन्हें नींद न आई। ज़रा भर भी खटका होता था तो वे भयभीत होकर दरवाजे की ओर झाँकने लगते थे। स्टेशनपर जब गाड़ी खड़ी हो जाती थी तब तो उनके भय की मात्रा और भी बढ़ जाती थी।

"इसी प्रकार सन् १९०८ या ९ में मथुरा स्टेशनपर एक बिगड़ेदिल अँग्रेज से और मुठभेंट हो गयी। आप सेकण्ड क्लास

में थे। बैठने के बाद स्टेशन मास्टर ने उसे एक अँग्रेज के लिए रिजर्व कर लिया। आपका कुछ सामान अभी बाहर ही था कि वह अंग्रेज दरवाजा रोककर खड़ा हो गया और सामान को भीतर आनेसे रोकने और कुछ बड़बड़ाने लगा। जमनालालजी भीतर और उनका सामान बाहर, गाड़ी छूटने का वक्त करीब। जमनालालजी इस अपमान को सहन नहीं कर सके। आपने उसकी पीठ में एक घूँसा मारा और कहा—हटो। घूँसे ने साहब का नशा उतार दिया। उसने समझा कि यह तो कोई मनुष्य है। वह दरवाजे से हट-कर एक किनारे हो गया। कुलियों ने जमनालालजी का सामान अन्दर रख दिया। स्टेशन मास्टर ने जब आपको फर्स्ट क्लास में जगह दी, तब आपने उसे छोड़ा।

" फर्स्ट और सेकण्ड क्लास में सफर करने का आपको प्राय: बहुत मौका मिलता रहा है। अतएव ऐसी घटनाएँ और भी हुई हैं। स्थानाभाव से यहाँ सबका उल्लेख नहीं किया जा सकता। पर एक घटना की चर्चा मैं यहाँ अवश्य करूंगा, जिससे आपकी निर्भयता प्रकट होती है।

"लगभग १५ वर्ष पहले की बात है। आप बंबई में रातके १ बजे नाटक-घरसे लौट रहे थे। एक नौकर साथ था। गाड़ी के लिए आप चर्नीरोड स्टेशन तक पैदल गए। वहीं एक घोड़ागाड़ी खड़ी थी। आपने गाड़ीवाले से भाड़ा तै किया और गाड़ी में बैठकर उसे कालबादेवी रोड़ ले चलने को कहा। वह शराब के

नशे में था। इससे वह कालबादेवी ले जाने के बदले आपको सीधे मलबार हिल की तरफ़ ले गया और वहाँ एक मकान के सामने गाड़ी खड़ी करके बोला कि उतरो। आपने झाँककर देखा तो गाड़ी दूसरी ही जगह खड़ी है। आपने उससे कहा कि कालबादेवी चलो। उसने कहा— यहीं के लिए किराया तै हुआ था, यहीं उतरो; मैं कहीं न जाऊंगा। आपने नौकर को कहा कि यह शराब पीए हुए मालूम होता है, तुम इसके पास बैठकर गाड़ी हंकवाओ। नौकर जैसे ही नीचे उतरा, गाड़ीवाले ने एक हंटर जमा ही तो दिया। नौकर तिलमिला उठा। अब सेठजी उतरे। आपको भी वह हंटर मारने चला। इसपर आपने नौकर की सहायता से उसे कोचबक्स से नीचे खींच लिया और पिटवाया भी। ऊपर से गिरने से उसके घुटने भी फूट गए थे। उसे गाड़ी में लादकर और नौकर को उसके पास बैठाकर आप स्वयं गाड़ी हाँककर पुलिस चौकी पर पहुँचे। रात के तीन बजे होंगे। दारोगा साहब सो रहे थे। जगाए जाने पर उन्होंने कहा—छः बजे सवेरे 'रपट' लिखी जाएगी। सेठजी गाड़ी को पहरेवाले सिपाही के सुपुर्द करके और उसका नंबर लेकर घर चले गए। घर से आपने पुलिस के उच्च अफ़सर को एक पत्र लिखा; जिस में उस रात की कुल घटना सत्य-सत्य लिख दी। पत्र में गाड़ीवाले को कोचबक्स से खींच लेने, उसके घुटने में चोट आने और फिर उसे पीटने का भी ज़िक्र था। अन्त में दारोगा के कर्त्तव्यपालन की अवहेलना की भी शिकायत की। थोड़े दिनों के बाद पुलिस अफ़सर का पत्र

आया जिस में यह सूचना थी कि जांच करने के बाद गाड़ी का लाइसेंस छीन लिया गया और दारोगा मुअत्तल कर लिया गया। और पुलिस की लापरवाही से जो कष्ट मिला उसके लिए बंबई के सभ्य पुलिस अफ़सर ने खेद भी प्रकट किया था।"*

कई लोग ऐसे होते हैं कि जबतक उनके स्वार्थ या लोभ पर आंच नहीं आती तब तक तो अपनी निर्भयता और स्पष्टवादिता को बढ़ा चढ़ाकर प्रकट करते रहते हैं, लेकिन जहां देखते हैं कि उनके पद, स्वार्थ और लोभ में बाधा आ रही है या आ सकती है और उसका जीवन पर असर होनेवाला है तो वे अपनी शेखी को भूलकर इतने नम्र बन जाते हैं कि कल्पना नहीं की जा सकती। हमारे समाज में रात-दिन क्या होता रहता है, इसे सब जानते हैं। पंचायती की जाजम पर बैठकर एक अशिक्षित और गंवार भी अपने आपको 'पंच' और 'न्याय दाता' मानने लगता है और आरोपी से जिरह करने में अपनी सारी शक्ति और साहस लगा देता है; लेकिन वही आदमी एक सरकारी अफसर या चपरासी की ज़रासी डांट के आगे पसीना-पसीना हो जाता है। जमनालालजी बजाज १९१८ में रायबहादुर थे। अंग्रेज सरकार ने रायबहादुर की उपाधियाँ प्रायः उन्हीं लोगों को वितरित कीं जो व्यापारी या सरकार के मददगार रह सकते थे। सरकार ने रायबहादुरी की उपाधि देकर जहाँ एक ओर उन लोगों का सम्मान किया वहाँ उनमें एक भय भी निर्माण कर दिया कि रायबहादुरी का छिन जाना भी उनके लिए हितकर नहीं होगा।

* पं० रामनरेशजी त्रिपाठीकी 'सेठ जमनालाल बजाज' पुस्तक से

इस डर के कारण सरकार के भले-बुरे कामों में वे हस्तक्षेप तो कर ही नहीं सकते थे, बल्कि उसीका समर्थन भी करते थे। पर जमनालालजी इस कोटि के रायबहादुर नहीं थे। सन् १९२१ में तो गांधीजी के आंदोलन और विचारोत्तेजना के कारण सरकार के विरुद्ध लड़ने-झगड़ने या अधिकारियों का मुकाबला करने की वृत्ति जनता में निर्माण हो चली थी। किंतु धनवान तो सदा ही सरकार के आतंक से घबराते रहे हैं। और फिर सन् १९२१ के पूर्व तो स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। उस समय जमनालालजी ने सरकार की नीति के विरुद्ध जो कुछ कहा-सुना वह घटना तो उनके महान् साहस का परिचय देती है। घटना उन्हीं के शब्दों में दी जा रही है, ताकि उसका मर्म समझ में आ सके। घटना का वर्णन पं० रामनरेशजी त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'सेठ जमनालाल बजाज' में इस प्रकार किया है :

"सन् १९१८ में जो घटना हुई, उससे तो सरकार के प्रति मेरी (सेठजीकी) रही-सही श्रद्धा भी जाती रही। नागपुर के कमिश्नर मिस्टर मार्स्किग ने वर्धा के कलक्टर के द्वारा मुझसे मिलने की कई बार इच्छा प्रकट की। मैं प्रायः बंबई या भ्रमण में रहा करता था। इससे मिलना नहीं हो सका। कुछ अवकाश मिलते ही मैं सन् १९१८ में उनसे नागपुर में मिला। उस समय उनके सामने मेजपर एक बड़ी फाईल रक्खी थी। संभवतः मेरे संबंध में सी० आई० डी० की रिपोर्ट थी। उस समय साधारण शिष्टाचार की बातों के बाद मुख्य विषय की जो बातें हुईं, अब न तो उनका

क्रम ही मुझे स्मरण है, न शब्द ही। हाँ, भाव ज्यों के त्यों स्मरण हैं।

कमिश्नर ने मुझ से पूछा—आप गांधीजी के पास जाया करते हैं ?

मैं—जी हाँ।

कमिश्नर—क्या आपके यहाँ मिसेज नायडू, नेकीराम शर्मा, देवीप्रसाद खेतान आदि राजनीतिक कार्यकर्त्ता ठहरा करते हैं ?

मैं—जी हाँ।

कमिश्नर—आपको मालूम होगा कि गवर्नमेंट आपको बहुत मान की दृष्टिसे देखती है और गवर्नमेंट में आपका मान बहुत है।

मैं—जी हाँ।

कमिश्नर—आप पर ज्यादा जवाबदारी है।

मैं—यह ठीक है। पर जो लोग मेरे यहाँ ठहरते हैं उनके राजनीतिक विचारों से मेरा कोई खास सम्बंध नहीं है। मेरे विचारों के बारे में आपके पास कोई रिपोर्ट हो तो आप मुझ से उसका जवाब माँग सकते हैं। मैं उसका खुलासा कर सकता हूँ। पर राजनीतिक मतभेद रखते हुए भी मैं अपने मित्रों से या अपनी समझ के अनुसार जो देश-सेवा करते हैं उनसे, संबंध न रक्खूँ, न मिलूँ या अपने यहाँ ठहरने न दूँ, यदि सरकार की यह मंशा हो तो यह बहुत अधिक है। इसका पालन करना किसी भी मनुष्य के लिए, जो अपने को मनुष्य समझता हो, असंभव है।

कमिश्नर—आप गांधीजी के यहाँ जाया करते हैं ?

मैं—हाँ, मैं उनके पास जाया करता हूँ। उनके प्रति मेरा बहुत पूज्य भाव है।

कमिश्नर—आप गांधीजी के पास जाते हैं, या राजनीतिक लोग आपके पास ठहरते हैं इससे आप पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। आप तो समझदार आदमी हैं। पर दूसरे लोगों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ना संभव है। इसलिए आपको विशेष सावधानी से काम लेना चाहिए। इन लोगों से संबंध छोड़ देना चाहिए।

मैं—मेरे पूर्व परिचित लोग, चाहे वे किसी विचार के क्यों न हों, मेरे यहाँ आवेंगे तो उनका आतिथ्य करना मेरा धर्म है। मैं उन्हें रोक नहीं सकता। गांधीजी के प्रति मेरा पूज्य भाव है। मैं उनसे संबंध नहीं छोड़ सकता।

कमिश्नर—(बहुत क्रोध के आवेश में) तो आपके विद्यालय की नई इमारत का उद्घाटन चीफ़ कमिश्नर नहीं करेंगे।

सर बेंजमिन रॉबर्टसन उन दिनों चीफ़ कमिश्नर थे। मारवाड़ी विद्यालय की नई इमारत का उद्घाटन उन्हीं के हाथों होना निश्चित हुआ था। कमिश्नर की बातों से मालूम हुआ कि चीफ़ कमिश्नर केवल मेरे कारण से विद्यालय की नई इमारत का उद्घाटन न करेंगे। मैं चीफ़ कमिश्नर से खूब परिचित था। विद्यालय की संस्था से उनका प्रेम भी बहुत था। मैंने कमिश्नर को उत्तर दिया—

'विद्यालय की कमेटी की इच्छा चीफ़ कमिश्नर के हाथ से उद्घाटन कराने की है। यदि वे नहीं करना चाहते तो उनकी खुशी की बात है। मैं क्या कर सकता हूँ।'

इस पर कमिश्नर ने मारे क्रोध के टेबुल पर ज़ोर से हाथ पटक कर कहा—

'आपको सरकार की ओरसे रायबहादुरी मिलने के बाद ही से आपने इन लोगों से मिलना-जुलना शुरू किया है।'

मैंने कमिश्नर का यह भाव समझा कि पहले तो मैंने सरकार से रायबहादुरी ले ली। अब इधर पब्लिक में नाम कमाने की इच्छा से राजनीतिक क्षेत्र में जा पहुँचा। मैंने उत्तर दिया—

'मैंने तो रायबहादुरी के लिए सरकार से कहा भी नहीं। न किसी से कोशिश ही कराई। आपका यह समझना कि राय-बहादुरी मिलने के बाद मेरा संबंध इन लोगों से हुआ, बिल्कुल ग़लत है। मेरा इन लोगों से बहुत पुराना संबंध है। यदि आपकी सी० आई० डी० वालों ने पहले इस बात की रिपोर्ट न की हो तो यह आपके डिपार्टमेंट की भूल है। आप जानना चाहें तो मैं अपने काग़ज़ पत्रों से यह साबित कर सकता हूँ कि इन लोगों से मेरा संबंध रायबहादुरी मिलने से बहुत पहले का है।'

कमिश्नर—अच्छा, आप कलक्टर से मिलकर समझौता कर लीजिए।

मैं—इसमें कोई समझौते की बात नहीं मालूम होती। जो लोग मेरे यहाँ ठहरते आए हैं, वे फिर भी ठहर सकेंगे। जब कितने

ही सरकारी अफ़सर, जिनको मैं जानता हूँ कि उनमें कइयों के आचरण ठीक नहीं हैं, और जिनके लिए मेरे मन में ज़रा भी प्रेम नहीं है, मेरे घर ठहरते हैं और मुझको उनसे संबंध रखना पड़ता है, तो जो लोग देश की सेवा करते हैं और जिनका चरित्र ठीक है, केवल राजनीतिक मतभेद होनेपर मैं उन्हें अपने यहाँ न ठहरने दूँ, या उनसे संबंध न रक्खूं, इसका कोई कारण मेरी समझ में नहीं आता। यदि वास्तव में सरकार की इच्छा ऐसी है तो वह बहुत अधिक है।'

मैं यह कहकर बाहर चला आया। श्री जाजूजी बाहर मौजूद थे। वे अपने किसी अन्य काम से कमिश्नर से मिलने गए थे। मैंने उनसे सब हाल कहा। इस घटना का मेरे मन पर बहुत प्रभाव पड़ा कि किस तरह सरकारी आदमियों का बर्ताव होता है और वे क्या चाहते हैं।"

जमनालालजी का कमिश्नर से यह वार्तालाप साधारण कोटि का नहीं है। धनी, जमींदार, आनरेरी मजिस्ट्रेट, रायबहादुर, होकर एक अँग्रेज कमिश्नर के साथ खुली हुई बातें करना असाधारण साहस का काम है। इस बात से यह रहस्य भी खुलता है कि सरकार किस तरह लोगों को दबा रखना चाहती है। कमिश्नर तो सरकार के लिए अपना कर्तव्य पालन कर रहे थे। पर जमनालालजी ने जो कुछ कहा, उससे उनका आत्मगौरव, विचार की दृढ़ता और स्पष्टवादिता प्रमाणित होती है। इस तरह निर्भयता के साथ न्याय-पक्ष के समर्थन करने का साहस इस देश

के कितने धनियों में हैं ? और एक मारवाड़ी में इतना आत्माभिमान होना तो और आश्चर्यजनक है !

इस प्रकार सरकारी मायाजाल से जमनालालजी ने अपने को मुक्त कर लिया।"

यों तो उनके जीवन की सैकड़ों घटनाएँ निर्भयता सम्बंधी दी जा सकती हैं। राष्ट्रीय आंदोलनों में धन हानि के कई प्रसंग आए, सरकार की ओरसे डराया धमकाया गया; लेकिन उन्होंने किसी बात की चिंता नहीं की। बल्कि दो-चार बार जब पेचीदे प्रश्न मुनीमों के सामने खड़े हुए तब भी जमनालालजी ने उन्हें निर्भीक और सच्चे बने रहने को कहा। धन-हानि के भय से उन्होंने कभी कोई ऐसी बात नहीं की जो एक सत्याग्रही के लिए अशोभनीय हो। सन् १९३१ में वे धूलिया के जेल में थे। जुर्माना वसूल करने के फिराक में सरकार थी ही। उस समय के उनके मुनीम श्री गंगाबिसनजी बजाज, जो उनके चचेरे भाई होते हैं, उनसे मिलने के लिए धूलिया गए और कहा कि "जुर्माने की वसूली के लिए सरकार की कुर्की तो आएगी ही। अपने यहां तिजोरी में जेवर आदि रखा हुआ है। मेरा विचार है कि इन चीज़ों को वहां से हटाकर ऐसी जगह रख दिया जाय कि सरकार को पता न चल सके।"

जमनालालजी को यह बात अच्छी नहीं लगी। वे सच्चे सत्याग्रही थे। उन्होंने कहा: "जब सरकारी कर्मचारी जुर्माना वसूल करने को आवें और माल जब्त करना चाहें तब तुम्हारा

कर्त्तव्य होना चाहिए कि तिजोरी और दुकान को जैसी की वैसी छोड़कर बाहर हो जाओ। सत्याग्रही का अर्थ ही यह है कि स्वेच्छापूर्वक अधिक से अधिक कठिनाइयों को बर्दाश्त किया जाय। अन्यथा तो हमें कौन कहने आता है कि हमें यह-वह करना चाहिए। अगर सरकार को छकाना होता तो सत्याग्रह ही क्यों स्वीकार किया गया ? सरकार की नीति से हमारा विरोध रहने का अर्थ उसके साथ छल करना नहीं है।"

देशरत्न डा. राजेन्द्रप्रसादजी (वर्तमान राष्ट्रपति) ने जमनालालजी के सम्बंध में पं० रामनरेशजी त्रिपाठी को एक पत्र लिखा था। उसकी प्रतिलिपि यहां दे रहा हूँ। राजेंद्रप्रसादजी जैसे सरल, सच्चे और महान् नेता विश्व में बहुत कम हैं। ऐसे लोग एकाएक किसी से प्रभावित नहीं हो जाया करते। उनके पत्र से तुम्हें ज्ञात हो सकेगा कि जमनालालजी में कुछ ऐसी शक्ति अवश्य थी जिसके कारण वे राजेन्द्रप्रसादजी जैसे नेता के भी स्नेह पात्र बन सके। पत्र इस प्रकार है—

"मेरी पहली भेंट सेठ जमनालाल बजाजजी से कलकत्ते में १९१७ ईस्वी की कांग्रेस के समय में हुई थी। जब उन्होंने महात्मा गांधीजी के आतिथ्य का भार स्वीकार किया था और मैं महात्माजी के साथ ही चम्पारन से कांग्रेस में गया था। दूसरी भेंट बम्बई में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसरपर हुई। पर ये दोनों अवसर ऐसे थे कि विशेष कुछ परिचय नहीं हुआ। सच्ची भेंट असहयोग-

आंदोलन के बाद ही हुई और गत पांच वर्षों में हमारा उनका परिचय दिनों दिन घनिष्ठ होता गया है।

"सेठजी की दानशीलता और उदारता को सभी देश जानता है। पर उनके दूसरे गुणों को वही जान सकते हैं जिनका उनके साथ अधिक व्यवहार रहा है। मेरा विचार है कि महात्मा गांधीजी के सिद्धान्तों को उन्होंने केवल समझा ही नहीं है, पर अपने जीवन में—प्रतिदिन की दिनचर्य्या में—इस प्रकार से स्वीकार कर लिया है और वर्तना आरंभ कर दिया है जैसा वर्तनेवाले देश में आश्रम के बाहर शायद ही दो-चार मिलें। यद्यपि आधुनिक रीति की शिक्षा उनकी उच्चकोटि की नहीं है, पर बुद्धि तीव्र होने के कारण उन सिद्धान्तों के तत्त्व को वह खूब ही सूक्ष्म रीति से उनकी विवेचना करते हैं। इसका विशेष कारण है उन सिद्धान्तों के अनुसार अपने जीवन को बनाने की चेष्टा। मैं समझता हूँ कि जब वह किसी को कहना चाहते हैं अथवा किसी काम को करना चाहते हैं तो उस विषय को उन सिद्धान्तों की कसौटी पर पहले जाँच लेने का प्रयत्न करते हैं। उन सिद्धान्तों के मूलतत्त्व सत्य और अहिंसा हैं। इसलिए सेठजी जो समझते हैं उसे कह देने में कभी भी नहीं हिचकते। मैं जानता हूँ कि इसी निर्भयता के कारण कितने ही सज्जन उनसे बहुत रञ्ज हो जाते हैं। यद्यपि सेठजी के हृदय में यह बात नहीं आती कि अपने वचनों द्वारा वह किसी को दुख पहुँचावें। पर जो उनके उस भाव को नहीं समझते हैं वह अप्रिय सत्य के लिए बिगड़ जाते हैं। पर जो उस भाव को

समझते हैं और उनके स्वच्छ हृदय को जानते हैं उनका दूसरा विचार नहीं हो सकता है। मैंने कई बार देखा है कि किसी विषय के विवेचन में वह महात्माजी की भी कड़ी, पर विनयपूर्ण समालोचना करते हैं और कमेटियों में उनके जैसे स्पष्टवक्ता कम आदमी हैं। वह कुशल व्यवहारिक पुरुष हैं। इसलिए जब कोई बात सामने आती है और विशेष कर जब उसका किसी सार्वजनिक संस्था के कोष और धन के साथ संबंध रहता है तो उसकी बहुत छान-बीन करते हैं। उनका विचार है कि जन-साधारण से जो धन इकट्ठा किया जाता है उसका सदुपयोग होना चाहिए और हिसाब किताब के मामले में वह बहुत ही सख्त हैं। उनको लाखों का दान देने में संकोच नहीं होता। पर एक पैसे का भी नुकसान बर्दाश्त के बाहर हो जाता है। कमिटी, सभा सोसाइटी के नियमों के वह बहुत पाबन्द हैं और यद्यपि वह सरकारी अनुचित आज्ञाओं की भद्र अवज्ञा करके जेलखाने जाने में नहीं डरते, पर जिस संस्था के वह सदस्य हैं उसके छोटे से छोटे नियम की अवहेलना न वह स्वयं करना चाहते हैं और न दूसरों द्वारा होने देना उचित समझते हैं। जिस काम को वह स्वयं भलीभाँति नहीं कर सकते हैं उसमें हस्तक्षेप करना अथवा उसकी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेना वह पसन्द नहीं करते हैं। पर जिस काम में वह पड़ते हैं उसके लिए जी-जान से प्रयत्न करते हैं और अपनी कार्य-कुशलता के कारण सफलता भी प्राप्त करते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वह दलितोद्धार के बड़े पक्षपाती और खद्दर के बड़े भक्त हैं। वर्धा

में अछूतों के लिए उन्होंने पाठशाला खोल रखी थी, जिसमें प्रायः स्वयं जाया करते थे और उनके साथ मिला करते थे। भिन्न-भिन्न प्रांतों से आये हुए कार्यकर्त्ताओं के आतिथ्य-सत्कार में उनका जी बहुत लगता है और एक दो मुलाकात के बाद उनके प्रेम और सत्कार के बन्धन से, यद्यपि उनमें कृत्रिमता कुछ भी नहीं है, सभी फँस जाते हैं। चाहे जहां कहीं अखिल भारतीय महासमिति की बैठक क्यों न हो, सेठजी का डेरा बहुतों का अड्डा रहता है। यहां तक कि जब गत दिसंबर में पटने में भी बैठक थी तो भी एक शाम मैंने सेठजी के यहां ब्यालू किया था। उनके द्वारा कितने लोगों को गुप्त रीति से सहायता मिलती है, इनका हिसाब नहीं दे सकते हैं; क्यों कि यह दूसरों को मालूम नहीं है। कितने मित्रों को उनकी मुसीबत के समय उन्होंने सहायता दी है, यह भी ऐसे मित्र अथवा वह स्वयं ही कह सकते हैं। वह सच्चे त्यागी, स्पष्टवादी, कार्यकुशल व्यक्ति हैं, जिनकी सेवा, त्याग और कार्यदक्षता देश उत्तरोत्तर देखता और पहचानता जायगा और जो समय आनेपर बड़ा से बड़ा त्याग भी करने में संकोच नहीं करेंगे।

—राजेन्द्रप्रसाद"

निर्भयता केवल एक ही प्रकारकी नहीं होती भय के सात प्रकार माने गए हैं। जो सातों भय से मुक्त होता हैवही सच्चा निर्भीक कहलाता है। जमनालालजी धन के प्रति अनासक्त थे और इसी कारण वे निर्भयता प्रकट करते थे, ऐसी बात नहीं

थी। शरीर के प्रति भी वे उतने ही निर्भीक थे। सन् १९३१ में जब वे जेल गए तब उन्हें 'सी' क्लास दिया गया। उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं था। सत्याग्रहियों की हिम्मतपस्त करने के लिए बड़े-बड़े नेताओं को सरकार ने 'सी' क्लास दिया था और उसकी मंशा यह थी कि सत्याग्रही ही तंग आकर 'ए' और 'बी' क्लास के लिए प्रार्थना करें। जमनालालजी ने स्वेच्छापूर्वक 'सी' क्लास में रहना स्वीकार किया, लेकिन शरीर-सुख के लिए प्रार्थना नहीं की।

अपने सिद्धान्तों के लिए वे चाहे जिस और चाहे जैसे खतरे को भी झेल लेते थे, और उसमें साहसपूर्वक भाग लेते थे। नागपुर के हिन्दू-मुस्लिम बलवे के सम्बंध में जो घटना हुई थी, वह यहां दे रहा हूँ :

"हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े में चोट

झंडा–सत्याग्रह के थोड़े दिन बाद एक दिन आप अपने निजी काम से नागपुर गए थे। रास्ते में मालूम हुआ कि वहां हिन्दू-मुसलमानों में बलवा होनेवाला है। आप बलवे के स्थान पर गए। वहां गाड़ी से उतरकर देखा कि मारपीट हो रही है। आप घायल मुसलमानों को ताँगे में बैठाकर भेजना चाहते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों आपसे कहते थे कि आप यहां से चले जाइए। पर आप घायलों को छोड़कर वहाँ से हटना नहीं चाहते थे। उसी हुल्लड़ में किसी की लाठी से आपके हाथ में गहरी चोट लगी। वहां जान जाने का खतरा था। पर आप चोट लगने पर भी अन्त

तक खड़े रहे, जिससे झगड़ा बढ़ने नहीं पाया। आपकी इस बात पर मुग्ध होकर काशी के बाबू भगवानदासजी ने एक पत्र लिखा था—'मैं आपको हृदय से नमस्कार करता हूँ। दो घायल मुसलमानों की रक्षा करते हुए नासमझों के हाथ से गहरी चोट खाई और जान जोखिम उठाई। आपने अपने को महात्माजी के सिद्धान्तों का पक्का अनुयायी दिखाया, जो हम लोगों से नहीं करते बनता। आपने सब सच्चे हिन्दुओं और सच्चे कांग्रेसवादियों और देशवासियों का सिर ऊँचा किया।

शुभचिंतक,
भगवानदास"

इस प्रकार तुम जान सकते हो कि जमनालालजी में निर्भयता और स्पष्टवादिता स्वाभाविक थी और वह इतनी महान् थी कि उसका उपयोग दूसरों के लिए भी उतना ही सात्विक होता था। वह आतंकपूर्ण और अहंकारपूर्ण नहीं थी। वह सच्ची थी, आत्मिक थी।

: ११ :

सन्त समागम

प्रिय ईश्वर,

पिछले पत्रों में व्यावसायिक और सामाजिक विशेषताओं की चर्चा की गई है। पर मनुष्य केवल आर्थिक और भौतिक ही नहीं होता। आत्म-जाग्रति और आत्म-कल्याण ही वस्तुतः उसका चरमलक्ष्य होता है। सच्चरित्र व्यक्ति ही आत्मोन्मुख होता है। चरित्र-निर्माण संतसमागम से ही संभव है। जिस व्यक्ति का चरित्र शुद्ध और प्रामाणिक नहीं होता उसका विश्वास नहीं किया जाता। लोक-विश्वास प्राप्त करने के लिए जीवन को बार-बार कसने की और आत्मनिरीक्षण करने की जरूरत होती है।

हम देखते हैं कि संसार में अनेक प्रकार के लोगों से हमारा संबंध आता है। मानसविज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि एक आदमी का स्वभाव दूसरे आदमी से नहीं मिलता। वृत्तियों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदरेखाएँ परस्पर इतनी विषम होती हैं कि बहुत बार तो वर्षों तक एक साथ रहनेवाले दो व्यक्ति भी एक-दूसरे को समझने में भूल कर बैठते हैं। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने एक स्थान पर बड़ी सुन्दर बात कही है :

तुलसी या संसार में, भाँति-भाँति के लोग।
सब से हिल-मिल चालिए, नदी नाव संजोग।

जीवन समन्वय का दूसरा नाम है। यह समन्वय बिना विवेक के नहीं आता। हर व्यक्ति की स्थिति, शक्ति, योग्यता

और आस-पास का वातावरण जैसा रहता है उसीके अनुसार जीवन का ढाँचा तैयार होता है। ऐसी स्थिति में जब सब की आशा-अभिलाषाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं, यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि दूसरे सब किसी एक के अनुकूल बन जाएँ। संत हमें वह दृष्टि देते हैं जो समन्वय की ओर जाती है। वे कहते हैं: हर आदमी को उसके अपने दृष्टिकोण से देखना चाहिए। अगर हम हर आदमी की चित्तभूमिका पर खड़े होकर उसकी स्थिति, उसकी आशा और उसके दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करें तो हमें विदित होगा कि वह असत्य कुछ नहीं कहता है। उसके—अपने दृष्टिकोण से वह सब सत्य है। यहीं जीवन में समन्वय आता है। इसीका नाम जैन-दर्शन में "अनेकान्त" है। सचमुच दार्शनिक इतिहास में "अनेकान्त" की सृष्टि महत्त्वपूर्ण, चिरंतन और मनोवैज्ञानिक है। यह अनेकान्त-दृष्टि एक दूसरे को निकट लाती और जीवन को शान्त, सहिष्णु, विवेकी, उदार और स्निग्ध बनाती है। जिसके पास "अनेकान्त"—दृष्टि होती है उसमें तो अहंकार होता ही नहीं, पर उसके प्रभाव से भिन्न-दृष्टिकोणे वालों का अहंकार भी गल जाता है। मैं सच्चा सन्त उसीको कहता हूँ जो इस प्रकार जीवन में समन्वय या समता की साधना करता है।

कई लोग आज-कल कहते हैं कि यह कलियुग है। जिसमें लोगों की वृत्तियाँ बिगड़ गई हैं और सन्त तो दिखते ही नहीं चारों तरफ ढोंग और मक्कारी फैल गई है, पर मुझे तो ऐसा कुछ

नहीं लगता। संत सब जगह और सब समय मिल सकते हैं। केवल ढूँढकर उनकी संगति प्राप्त करने की वृत्ति होनी चाहिए। कलियुग सिवा मानसिक विकृति के और क्या है? अपने दुर्गुणों और दुर्बलताओं को छिपाने के लिए कलियुग का अवलंबन लिया जाता है। यह निश्चित समझो कि जो दूसरों को दोष देता है वह स्वयं विकृति का शिकार होता है।

सन् १९२४—२५ की बात है। मैं बापू के निकट रहने के लिए साबरमती गया था। पहले मैंने बापूको लिख दिया कि मैं उन से मार्ग-दर्शन चाहता हूँ। बापू ने मुझे अपने निकट ही रख लिया और मैं उनकी आज्ञानुसार कार्य करता रहता। मैंने दो-एक बार बापू से कुछ उपदेश देने के लिए कहा। एक दिन प्रार्थना के बाद जब वे सोने को जा रहे थे तब मुझे बुलाकर कहा:—आओ, तुम से कुछ बात करनी है। उन्होंने लेटे-लेटे ही कहा : "प्राण को अन्नमय कहा जाता है। लेकिन बिना अन्न के आदमी साठ दिन से भी अधिक जीवित रह सकता है। बिना पानी के इतने दिन नहीं रहा जा सकता और हवा के बिना तो एक क्षण भी नहीं रहा जा सकता। अन्न से जल सूक्ष्म है और जल से सूक्ष्म हवा। स्थूल से सूक्ष्म अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। यही बात शिक्षा के संबन्ध में है। मैं तुम्हें उपदेश कर तो सकता हूँ लेकिन वह स्थूल शिक्षा होगी। जीवन में इसकी भी जरूरत होती है किन्तु वातावरण से ग्रहण की जानेवाली शिक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। तुम यहाँ के वातावरण से जो सिखोगे वह अधिक सत्य और महत्त्वपूर्ण होगा।"

जमनालालजी बजाज ने भी अपने आस-पास के वातावरण को इस प्रकार का बनाने का प्रयत्न किया जिससे जीवन का विकास हो। वे हमेशा सन्त तथा सात्विक जनों की खोज में रहते थे। वे जानते थे कि मनुष्य के जीवन पर उपदेश का और स्वाध्याय का जो असर नहीं होता वह संगति और वातावरण का होता है। संगति और वातावरण से जो संस्कार मिलते हैं वे दृढ़ होते हैं।

जमनालालजी बचपन से ही साधु-महात्माओं से पूछते रहते थे कि जीवन का सदुपयोग किस बात में है। जीवन को सफल बनाने के लिए क्या-क्या करना चाहिए आदि। उनकी दादीजी—सदीबाई—धार्मिक वृत्ति की थीं। वे हमेशा साधु-सन्तों को भोजन कराती रहती थीं। विशेष तिथियों और पर्वों के दिनों में भागवत् कथा, पुराण आदि सुना करती थीं। इस वातावरण से बालक जमनालालजी की वृत्ति को प्रेरणा मिली और वे तब से ही भले लोगों की संगति में रहने लगे। उनका बाल-मन अपने परिवार के वातावरण से प्रभावित होकर दार्शनिकता के शैशव-काल में पलने लगा। उन्हें गप-शप और खेल-कूद में विशेष रस नहीं आता था। उन्हें बचपन में जो साथी मिले वे भी धार्मिक वृत्ति के ही थे। उनके साथियों में श्री श्रीकृष्णदासजी जाजू तथा श्री बिरदीचंदजी पोद्दार मुख्य थे। जाजूजी से तुम परिचित ही हो, इसलिए उनके बारे में अधिक लिखने की जरूरत नहीं है। केवल एक बात लिख देना उचित प्रतीत होता है। वे सहज-संत हैं।

उनकी वैराग्य-वृत्ति जन्म-जात है। उनका निर्णय अचूक और एक होता है। उन्हें किसी भी बात का मोह वश में नहीं कर सकता। वे कठोर न्यायाधीश माने जाते हैं। बापू तो उन्हें जनक की उपमा देते थे। जमनालालजी के विकास को उनकी संगति से काफी सहायता और प्रेरणा मिली। दोनों ने साथ-साथ सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश किया और सदा साथ-साथ ही रहे। यहाँ तक कि जमनालालजी ने जाजूजी को अपना बड़ा भाई मान लिया था। सचमुच ऐसे साथी या मित्र मिलना बड़े भाग्य की बात है।

जाजूजी जमनालालजी के व्यक्तित्व और सद्गुणों की पूरी कीमत आँकते थे। किन्तु इस बात का भी पूरा ध्यान रखते थे कि जमनालालजी में कोई ऐसी बात पैदा न हो जाय जो उनके विकास में बाधा उत्पन्न कर दे।

जमनालालजी ने अपने एक कमरे में एक पटिया टाँग रखी थी जिसमें उन्होंने लिखवा दिया था कि—

"एक दिन मरना अवश्य है, याद रख और अन्याय से डर।"

उन दिनों जमनालालजी काफी दान देने लग गए थे। जाजूजी ने सोचा दान देना अच्छी बात है, किन्तु कहीं जमनालालजी को नाम और कीर्ति का मोह न हो जाय। इसलिए उस पाटिए पर उन्होंने निम्न लिखित वाक्य और जोड़ दिया :

"दूसरों ने अपनी प्रशंसा करनी चाहिए ऐसी इच्छा मत रखो।"

जमनालालजी चतुर थे, वे इसके मर्म को समझ गए और सावधान हो गए। उन्होंने लाखों का दान दिया लेकिन चुप-चाप

और काम के महत्त्व को देखकर ही। जाजूजी की पैनी दृष्टि से वे नाम और यश के मोह से बच गए।

उनके दूसरे मित्र बिरदीचंदजी पोद्दार उनके मामा होते थे। वे वेदान्त के मर्मी और धार्मिक वृत्ति के थे। जवानी के दिनों में भी इन मित्रों के साथ जमनालालजी जीवन के उद्देश्य को नहीं भूले थे। प्रायः युवावस्था में आदमी अपने आपको भूल जाता है और अगर धन पास में हुआ तो फिर कहना ही क्या! लेकिन जमनालालजी पूरी तरह सावधान रहे। और अच्छे लोगों के संपर्क में आने का प्रयत्न चलता ही रहा। उन्होंने लोकमान्य तिलक, जगदीशचंद्र वसु, रवीन्द्रनाथ टैगोर, मालवीयजी आदि महापुरुषों से संबंध स्थापित किया और उनके जीवन से शिक्षा ग्रहण करते रहे। उनमें सबसे बड़ी बात यह थी कि वे दूसरों के गुण ही देखा करते थे। उनकी इस गुण-ग्राहकता के कारण ही उनके विचारों से मत-भेद रखनेवालों के साथ भी उनकी मित्रता निभ सकी। राजनीतिक दृष्टि से नरसिंह चिन्तामणि केलकर तथा उनके विचारों में बहुत अधिक अंतर था। किन्तु दोनों की मित्रता अन्त तक बनी रही। गुण-ग्राहकता के कारण ही सरकारी कर्मचारियों में भी उनके कई मित्र थे। जिलाधीश पाठक उनके अच्छे मित्र थे। जीवन में सब से अधिक सफल वही व्यक्ति होता है जो मतभेदों की खाई चौड़ी न कर जिन-जिन बातों में एकमत होता है उन्हें लेकर अपने संबंध बढ़ाता रहता है। जिलाधीश पाठक विद्वान, सहृदय, पापभीरु और ईमानदार थे। उनके हृदय में देशभक्ति भी

थी। उनकी कथनी और करनी एक थी। जमनालालजी को उनके जीवन से अनेक बातें सीखने को मिलीं।

जाजूजी जैसे बड़े भाई को पाकर जमनालालजी को बहुत लाभ हुआ। स्वयं जाजूजी भी जमनालालजी के विकास को देख उनके प्रति आदर रखने लग गए थे। जो महान् होते हैं उनकी विशेषता ही यह होती है कि अपने से छोटों की प्रगति इतनी कर देते हैं कि वे उनसे भी आगे बढ़ जायं। "बाप से बेटा सवाया" यह कहावत तथ्यपूर्ण मालूम होती है। जमनालालजी के विकास का यथार्थ चित्र जाजूजी के उस पत्र में आ जाता है, जो उन्होंने जमनालालजी की वर्षगाँठ के अवसरपर लिखा था। पत्र इस प्रकार है :

"मेरा हृदय तो आपको सदा प्रणाम करता है। फिर ऊपर से आशीर्वाद लिख दूं या और कुछ; हमारा शुभचिंतन है कि जो कायम रहें वे आपकी १२१ वीं वर्षगांठ मनावें यह परमात्मा से प्रार्थना है। यह तो हमारी दृष्टि हैं। इस विषय में आपकी क्या होनी चाहिए ? किसी पर्व का उपयोग पिछला हिसाब देखने और भविष्य में शुभसंकल्प करने के लिए होना चाहिए। सो आप करते ही हैं। मनुष्य के लिए जन्म महत्त्व की वस्तु नहीं है।"

जाजूजी ने जमनालालजी के बारे में जो कहा वह भी उनकी महत्ता को बढ़ाता है :

"सत्य के अमल में उन्हें काफी अड़चनें आती थीं लेकिन वे निष्ठा से नहीं डिगते थे। बड़े-बड़े व्यापारियों के मुँह से सुनने में

आता है कि कुछ-न-कुछ असत्य के बिना व्यापार का काम नहीं चल सकता। जमनालालजी इस धारणा को सदा गलत साबित करने का प्रयत्न करते रहे। युवावस्था में ही उनको इस बात का ध्यान था कि सारा व्यवहार न्याय-नीति एवं शुद्धता से हो। अपने व्यापार में जहाँ उन्होंने देखा कि काम न्याय-नीति से नहीं चलता वहाँ उन्होंने ज्यादा आमदनी के काम भी खुशी खुशी छोड़ दिए। अदालत में सत्य-निष्ठा की पूरी कसौटी होती है। पर जमनालालजी वहाँ भी अपने सत्य-व्रत पर निश्चल रहे।"

जमनालालजी को बड़े भाई के रूप में जाजूजी तो मिले, परंतु जीवन में पिता का भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। बड़ा भाई पिता के समान जरूर होता है, किंतु पिता की पूर्ति उससे पूरे अंशों में नहीं हो पाती। जमनालालजी अपने लिए मार्गदर्शक पिता की खोज में थे। वे चाहते थे कि उन्हें ऐसा पिता मिले जो उनका मार्गदर्शन करे और उनके विकास में सहायक हो, पवित्र हो। जमनालालजी का जीवन-व्यवहार मराठी भाषी प्रांत में ही प्रारंभ हुआ। स्वभावतः महाराष्ट्रीय नेताओं का सम्पर्क आया। फिर जाजूजी का आकर्षण अधिकतर लोकमान्य तिलक की ओर था। उनके सम्पर्क में भी जमनालालजी आए। उधर विज्ञानाचार्य जगदीशचंद्र वसु, विश्वकवि टैगोर, महामना मालवीयजी के सम्पर्क में भी वे आए, किंतु उनके पिता के स्थान की पूर्ति तो बापू से ही हुई। जमनालालजी मार्गदर्शक के लिए कितने प्रयत्नशील थे, यह उन्हीं के शब्दों में देता हूं :

"जीवन सेवामय, उन्नत, प्रगतिशील, उपयोगी और सादगीयुक्त ही यह भावना होश सम्भाला, तब से अस्पष्ट रूप से मेरे सामने थी। इसकी पूर्ति के हेतु सामाजिक, व्यापारिक, सरकारी और अन्य क्षेत्रों में हस्तक्षेप रखना मैंने प्रारंभ किया। सफलता मेरे साथ थी। पर, मुझे सदा यह विचार भी बना रहता था कि जीवन की सम्पूर्ण सफलता के लिए किसी योग्य मार्गदर्शक का होना जरूरी है। मैंने अपने विविध कार्यों में लगे रहने पर भी इस खोज को चालू रखा। उसी मार्गदर्शक की खोज में मुझे गांधीजी मिले और सदैव के लिए मिले।"

गांधीजी ने भी उन्हें अपना पुत्र मान लिया था। जमनालालजी उनके सच्चे उत्तराधिकारी पुत्र थे। गांधीजी ने उनकी मृत्यु के बाद लिखा था :

"बाईस वर्ष पहले की बात है। तीस साल का नवयुवक मेरे पास आया और बोला :

'मैं आपसे कुछ मांगना चाहता हूँ।'

मैंने आश्चर्य के साथ कहा : 'मांगो, चीज मेरे बस की होगी, तो मैं दूंगा।'

नवयुवक ने कहा : 'आप मुझे देवदास की तरह मानिए।'

मैंने कहा : 'मान लिया। लेकिन इसमें तुमने मांगा क्या? दर असल में तुमने दिया और मैंने कमाया।'

यह नवयुवक जमनालाल थे।

"वह किस तरह मेरे पुत्र बनकर रहे सो तो हिन्दुस्तानवालों ने कुछ अपनी आंखों देखा है। जहाँ तक मैं जानता हूं, कि ऐसा पुत्र आजतक शायद किसी को नहीं मिला।

"यों तो मेरे अनेक पुत्र और पुत्रियाँ हैं; क्योंकि यह सब पुत्रवत् कुछ-न-कुछ काम करते हैं। लेकिन जमनालाल तो अपनी इच्छा से पुत्र बने थे और उन्होंने अपना सर्वस्व दे दिया था। मेरी एक भी प्रवृत्ति ऐसी नहीं थी जिसमें उन्होंने दिल से पूरी-पूरी सहायता न की हो। और वह सभी कीमती साबित हुई, क्योंकि उनके पास बुद्धि की तीव्रता थी और व्यवहार की चतुरता। दोनों का सुंदर सुमेल था। धन तो कुबेर के भंडार सा था। मेरे सब काम अच्छी तरह चलते हैं या नहीं, इसकी फिक्र तो उनको बराबर रहा करती थी। कार्यकर्त्ताओं को लाना भी उन्हींका काम था। अब ऐसा दूसरा पुत्र मैं कहाँ से लाऊं? जिस रोज मरे, उसी रोज जानकीदेवी के साथ वे मेरे पास आनेवाले थे। कई बातों का निर्णय करना था। लेकिन भगवान को कुछ और ही मंजूर रहा। ऐसे पुत्र के उठ जाने से बाप पंगु बनता ही है। यही हाल आज मेरे हैं। जो हाल मगनलाल के जाने से हुए थे वे ही ईश्वर ने इस बार फिर मेरे किये हैं। इसमें भी उसकी कोई छिपी कृपा ही है। वह मेरी और भी परीक्षा करना चाहता है। करे। उत्तीर्ण होने की शक्ति भी वही देगा।"

लेकिन जमनालालजी का क्या प्रयत्न रहता है वह उन्होंने लिखा है:

"जिस दिन मैं पुत्रवात्सल्य के योग्य हो सकूंगा, वही समय मेरे जीवन के लिए धन्य होगा। महात्माजी की अनुपम दया से अपनी कमजोरियों को तो कम से कम थोड़ा-बहुत पहचानने लगा हूं।

"महात्माजी के कार्य में मैं अपने आपको विलीन हुआ पाने लगा। वे मेरे जीवन के मार्गदर्शक ही नहीं; पितातुल्य हो गए। मैं उनका पाँचवाँ पुत्र बन गया।"

जमनालालजी ने बापू को पिता मानकर पूरी श्रद्धा से उनके कार्यों में साथ दिया। लेकिन वे भावनाप्रधान अंध-श्रद्धालु नहीं थे। वे हर चीज को प्रज्ञा की कसौटी पर पूरी तरह कस लेते थे। गांधीजी के संबंध में भी उन्होंने यही किया जैसा कि उनके शब्दों से प्रकट होता है :

"जब मैं मार्गदर्शक की खोज में था तब गांधीजी दक्षिण अफ्रीका में सेवा-कार्य कर रहे थे। उनके विषय में समाचार पत्रों में जो आता उसे मैं गौर से पढ़ता था, और यह स्वाभाविक इच्छा होती थी कि यदि वह व्यक्ति भारत में आवे तो उससे संपर्क पैदा करने का अवश्य प्रयत्न किया जाय। सन् १९०७ से १५ तक इस खोज में मैं रहा। और जब गांधीजी ने हिन्दुस्थान में आकर अहमदाबाद के कोचरब मोहल्ले में किराये का बंगला लेकर अपना छोटासा आश्रम आरंभ किया तब उनसे परिचय प्राप्त करने के हेतु मैं तीन बार वहां गया। उनके जीवन को मैं बारीकी से

देखता। उस समय वे अंगरखा, काठियावाड़ी पगड़ी और धोती पहनते थे। नंगे पैर रहते थे। स्वयं पीसने का काम करते थे। स्वयंपाक गृह में भी समय देते थे। स्वयं परोसते थे। उनका उस समय का आहार केला, मूंगफली, जैतून का तेल और निंबू था। उनकी शारीरिक अवस्था को देखते हुए उनके आहार का प्रमाण मुझे अधिक मालूम होता था। आश्रम में प्रायः सायंप्रार्थना होती थी। सायंकाल की प्रार्थना में मैं सम्मिलित होता था। गांधीजी प्रार्थना के समय रामायण, गीता आदि का प्रवचन करते थे। मैंने उनकी अतिथि-सेवा और बीमारों की सुश्रुषा को भी देखा कि आश्रम की ओर साथियों की छोटी-से-छोटी बात पर उनका कितना ध्यान रहता है। आश्रम की सेवा-कार्य में रत और निमग्न बा को भी मैंने देखा। गांधीजी ने भी मेरे बारे में पूछ-ताछ करना आरंभ किया। शनैः शनैः संपर्क तथा आकर्षण बढ़ता गया। मैं उनके जीवन को समालोचक की एक सूक्ष्म-दृष्टि से देखने लगा। मुझे अनुभव होने लगा कि उनकी उक्तियों और कृतियों में समानता है, और मेरे बोले वैसा चाले इस आदर्श का यहाँ अस्तित्व है।"

जो व्यक्ति समालोचक से भक्त बनता है उसकी श्रद्धा स्वभावतः दृढ़ होती है। जमनालालजी गांधीजी के ऐसे पुत्र बने कि एक बार जब बापू ने चि० जमनालाल के स्थानपर भाई जमनालालजी लिख दिया तब उन्हें यह खटका। उन्होंने बापू को लिखा कि अब शायद मैं चिरंजीव के योग्य नहीं रहा। इसके उत्तर में बापू ने उन्हें यह पत्र लिखा था :

"चि० जमनालाल,

तुमको दुःख हुआ उससे मुझे भी दुःख हुआ है। मैंने एक खत में चि० का उपयोग नहीं किया क्योंकि वह मैंने खुला भेजा था। उस समय मैं इस बात का निर्णय नहीं कर सका कि चि० विशेषण को सब लोग पढ़ें, यह उचित होगा या अनुचित। इससे मैंने भाई शब्द का उपयोग किया है। तुम चि० हो या नहीं अथवा मैं बाप का स्थान लेने लायक हूं या नहीं, इसका निर्णय कैसे हो? तुमको जैसे तुम्हारे विषय में शंका है वैसे ही मुझे अपने बारे में शंका है। यदि तुम संपूर्ण हो तो मैं भी हूँ। बाप बनने के पहले मुझे अपने बारे में पहले विचार कर लेना था। तुम्हारे प्रेम के खातर बाप बन गया हूँ। ईश्वर मुझे इस स्थान के लायक बनावे। यदि तुम में कमी रहेगी तो वह मेरे ही स्पर्श की कमी रहेगी। हम दोनों प्रयत्न करते-करते अवश्य सफल होंगे, यह मुझे विश्वास है। इतने पर भी यदि निष्फलता हुई तो भी भगवान जो कि भावना का भूखा है और हमारे अंतःकरण को देख सकता है वह हमारे योग्यता के अनुसार हमारा फैसला कर देगा। इसलिए जबतक ज्ञानपूर्वक अपने अंदर मलिनता को स्थान नहीं देता हूं तबतक तुम्हें चि० ही मानता रहूंगा।"

जमनालालजी की इच्छा थी कि वे अपना पूर्ण विकास इसी शरीर से कर सकें। इसलिए जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ न जावे और सारी शक्तियों का उपयोग जीवन-विकास के लिए ही

हो इसके लिए वे अपने आसपास योग्य वातावरण बनाए रखना चाहते थे। उन्होंने बापू से वर्धा चलने को कहा। लेकिन बापू उस समय अपना कार्य-क्षेत्र गुजरात तक ही रखना चाहते थे। इसलिए सन् १९३४ तक बापू को वर्धा लाने में जमनालालजी सफल न हो सके। अतः उन्होंने वर्धा में आश्रम चलाने के लिए बापू से विनोबाजी को मांगा। विनोबाजी वर्धा आगए।

जब विनोबाजी वर्धा आये तब तरुण ही थे लेकिन उन की प्रतिभा अप्रतिम है। बचपन से ही वे विद्या-व्यसनी रहे हैं। तरुण अवस्था में भी उनका इतना विकास हो गया था कि वे जमनालालजी के गुरू बन गए। जमनालालजी को अपने जीवन-विकास में इस गुरू से बहुत कुछ सीखने मिला। उनके सान्निध्य में रहकर जमनालालजी प्रेरणा पाते रहे।

अब तो भारतीय जनता विनोबाजी से बहुत कुछ परिचित हो गई है। वे सहज-सन्त हैं। ज्ञान उनका गंभीर है। उनकी कथनी और करनी एक हैं। वे सच्चे कर्म-योगी हैं। कर्म द्वारा मुक्ति उनका आदर्श है। वे निरन्तर नई बात सीखने के लिए तैयार रहते हैं। उनके पास बैठने से चित्त को बड़ी शांति मिलती है। उनकी आत्म-साधना निष्क्रिय नहीं, बल्कि जनहित-प्रधान और श्रमपूर्ण है। उनका धर्म पीठपर का भार नहीं बल्कि सहज गतिमान है। उनके प्रवचन, लेख और विचार का एक-एक शब्द अनुभवपूर्ण होता है। सारांश यह कि वे निर्दोष सन्त, सहज-ज्ञानी,

पवित्र-विचारक और अनासक्त कर्मयोगी हैं। इस सन्त को आज भले ही बच्चा-बच्चा जाने पर तब तो कोई पहचानता भी नहीं था। और न किसी ने पहचानने की कोशिश ही की। किन्तु हीरे की परख जौहरी कर ही लेता है। जमनालालजी ने विनोबाजी को परखा और गुरू बना लिया। सन् ४१ में जमनालालजी ने अपनी डायरी में लिखा था :

"विनोबा के प्रति दिनों-दिन मेरी श्रद्धा बढ़ती जाती है। परमात्मा यदि इस देह को उनकी श्रद्धा के योग्य बना सकेगा तो वह समय मेरे लिए धन्य होगा। मुझे दुनिया में बापू पिता व विनोबा गुरू का प्रेम दे सकते हैं। मैं अपने को योग्य बना लूं।"

जमनालालजी ने अपना कितना विकास कर लिया यह विनोबाजी के शब्दों में पढ़ना उचित होगा। विनोबाजी ने यह शब्द उनकी मृत्यु के पश्चात् शिष्य को श्रद्धांजलि अर्पित करते समय कहे थे :

"पिछले बीस वर्षों से उनमें सूक्ष्म आत्म-निरीक्षण की आदत थी। परन्तु मन की जो उन्नत अवस्था अबतक प्राप्त कर सके थे उसमें तीन महीने में उन्होंने बड़ी रफ्तार हासिल कर ली थी। अब की बार ही मैं देख सका कि जमनालालजी के दिल में देह-भावना का अवशेष भी नहीं रहा। केवल सेवा-ही-सेवा रही। इससे अच्छी मृत्यु और क्या हो सकती है ! अन्तिम समयपर सेवा करते रहने पर मृत्युको प्राप्त होना कितनी भाग्य की बात है।

चित्त का शोधन करते-करते उच्च अवस्था में देह छोड़नी चाहिए। मेरा विश्वास है जमनालालजी को ऐसी ही मृत्यु प्राप्त हुई है। इसलिए यह दुःख की नहीं, ईर्षा की बात है।"

भाई, पिता और गुरू ही पाकर वे स्वस्थ नहीं बैठे। उनका प्रयत्न तो अन्त तक यही रहा कि उनके आसपास ऐसा वातावरण बना रहे कि सज्जनों का संग मिलता रहे और इसीलिए अनेक सज्जनों को उन्होंने वर्धा में ला बसाया—अपना संपर्क बढ़ाया। मृत्यु के कुछ महीनों पहले माँ आनन्दमयी को भी उन्होंने पा लिया।

वर्धा एक राष्ट्रीय तीर्थधाम माना जाता है। यहाँ अखिल भारतीय व्यक्तित्व रखनेवाले कुछ ऐसे सेवा-भावी लोग रहते हैं, जिन पर देश को अभिमान है। और इस का खास श्रेय—अगर गांधीजी को छोड़ दिया जाय—तो केवल जमनालालजी को मिल सकता है। उनकी सन्त-समागम-वृत्ति का ही परिणाम है कि वर्धा अनेक शुभ-प्रवृत्तियों का केन्द्र बना हुआ है। वर्धा की प्रवृत्तियों में जमनालालजी की आत्मा शाश्वत जागृत है।

: १२ :

न त्वहं कामये राज्यम्

प्रिय ईश्वर,

अबतक के पत्रों में मैंने व्यावसायिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से जीवन-विकास और जीवन-साफल्य की चर्चा की है। लेकिन इस पत्र में मैं पारमार्थिक दृष्टि से जीवन-साफल्य की चर्चा कर रहा हूँ। प्रामाणिकता, परिश्रम-शीलता, उत्साह, लगन और विनय और मधुरता या मिलन-सारिता होने पर भी जब तक मनुष्य का आदर्श 'स्व' से ऊपर उठकर 'परम' तक नहीं पहुँच जाता, तब तक जीवन-सिद्धि अपूर्ण ही रह जाती है। जीवन-शुद्धि से ऊपर की श्रेणी है जीवन-सिद्धि। और, यह चीज़ सेवा तथा अनासक्तवृत्ति से ही व्यवहार में उतरती है।

परमार्थ-चिन्तन का प्रयोग और उपदेश हजारों वर्षों से देखने में आता है। लेकिन बहुत थोड़े ही मनुष्य ऐसे होते हैं जो अपने जीवन को परसेवा और परहित में लगाते हैं तथा इस में आनन्द मानते हैं। जिन व्यक्तियों का ध्येय यह बन जाता है वे इस मार्ग में आनेवाली बाधाओं को हंसते-हंसते स्वीकार करते और सहन करते हैं और इसी कारण वे अमर बन जाते हैं। —हाड़ मांस के शरीर से समाप्त होकर भी विश्व-मानवता में उनकी आत्मा का संगीत ध्वनित होता रहता है। कुछ लोग भले ही कहें कि परसेवा और परहित में विघ्न आ ही कौनसे सकते हैं—केवल सेवा ही तो करना

होता है, जैसी जरूरत हुई कर दी और छुट्टी। ऊपर ऊपर से यह ठीक जँच सकता है कि परसेवा की अपेक्षा अपना हित करने में अधिक संघर्ष और विघ्न आते हैं। लेकिन यह बात कुछ ही अंशों में सही हो सकती है। सच तो यह है कि हर आदमी अपूर्ण होने पर भी अपने आपमें पूर्णता का अहंकार लिए रहता है और किसी दूसरे से सहायता और सेवा लेनेमें दीनता या अशक्तता महसूस करने की भावना से बचना चाहता है। दूसरी बात यह है कि आदमी के स्वभाव में जहां एक ओर अहंकार रहता है, वहाँ दूसरी ओर ईर्षा भी उतनी ही प्रबल होती है। वह प्रायः यह नहीं चाहता कि उसके समान ही दूसरे को भी यश या सम्मान प्राप्त हो—ऊँचा उठने पर तो गिराने का भी प्रयत्न किया जाता है। इस तरह सेवा-मार्ग के पथिक को पग-पग पर अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। एक तो इस मार्ग पर चलने वाले ही विरल होते हैं और चलने वालों में भी बहुत से तो गिर पड़ जाते हैं, हार जाते हैं, लौट जाते हैं और समाप्त भी हो जाते हैं। कुछ ही बचते हैं जो अपने ध्येय की सिद्धि के लिए अंत तक बढ़ते ही जाते हैं। उन्हीं का नाम अमर हो जाता है, वे ही संसार को धन्य कर जाते हैं—लोक-मानस उन्हीं को अपने में अधिष्ठित करता है। तुम देख सकते हो कि प्राचीन साहित्य में उन्हीं की स्तुति की गई है जिन्होंने लोक-मानस को जाग्रत किया है, प्रेरणा दी है, सेवा और सहायता दी है। जैनों का णमोकार मंत्र तो स्पष्ट ही सेवकों और अनासक्तों की स्तुति करता है।

ऐसे लोग किसी एक काल या युग में ही नहीं होते—वे तो हर काल और हर देश में होते हैं। केवल उन्हें खोजना पड़ता है और खोजने की दृष्टि भी चाहिए। साधु-संन्यासी तो प्रत्यक्ष ही परिग्रह-त्यागी और विरागी होते हैं और इसलिए सेवा और साधना तो उनके जीवन का मुख्य अंग ही बन जाता है। पर मैं यहाँ एक ऐसे व्यक्ति की ही चर्चा कर रहा हूँ जिसने अपने जीवन में जहां एक ओर व्यापार द्वारा लाखों रुपया कमाया, सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त की, वहीं दीन-दुखियों की सेवा में अपने धन को सार्थक किया। और वे थे सेठ जमनालालजी बजाज।

पहले अतिथि-सत्कार वाले पत्र में यह बताया जा चुका है कि जमनालालजी की दादीजी साधु-वृत्ति की थीं और साधु-संतों को खिलाने पिलाने से वे प्रसन्न होती थीं। जमनालालजी के बाल-मन पर इस परम्परा का बड़ा प्रभाव पड़ा। घर पर आनेवाले अतिथि-साधु से वे कुछ न कुछ पूछाही करते थे। अक्सर उनका प्रश्न 'जीवन का सदुपयोग काहे में है?' ही होता था। एक संतने बताया 'परोपकार'। महाभारत और संत तुकाराम का यह कथन कि 'परोपकार पुण्य है और परपीड़न ही पाप है' उनमें घर कर गया। परोपकार तो ठीक, किंतु इतने से जमनालालजी को संतोष नहीं हुआ। उन्होंने तत्काल एक दूसरा प्रश्न सामने रख दिया "परोपकार की सबसे उत्तम प्रवृत्ति कौनसी है?" संतने कहा दान; और दान में भी विद्यादान श्रेष्ठ है।

जाजूजी की वृत्ति भी वैराग्य तथा सेवा-प्रधान थी। दोनों समान गुण-वृत्ति-शील थे। दोनों ने विचार कर 'मारवाड़ी विद्यार्थी-गृह' तथा 'मारवाड़ी शिक्षा मण्डल' द्वारा समाज-सेवा का कार्य प्रारंभ किया। यह कार्य उन्होंने बहुत अच्छी तरह चलाया। वर्धा के मारवाड़ी विद्यालय में हिन्दी और मराठी माध्यम से मैट्रिक तक की शिक्षा की उत्तम व्यवस्था थी। समस्त बरार और नागपुर कमिश्नरी के भीतर यही एक विद्यालय था जहाँ हिन्दी माध्यम की व्यवस्था थी। नाम से मारवाड़ी होकर भी विद्यालय की प्रवृत्तियाँ सार्वजनिक थीं। लेकिन उनकी सेवा की भूख बहुत बड़ी थी—उन्हें इतने से ही संतोष नहीं हुआ। वे अधिक सेवा के लिए क्षेत्र ढूंढ रहे थे।

यह उस समय की बात है जब वे व्यापार करते थे और तरुण थे। समाज में शिक्षा का प्रचार नहीं के बराबर था और शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों में अधिकांश वे ही लोग हिस्सा लेते थे जो विद्वान या शिक्षित होते थे और वे ही इसके योग्य माने जाते थे। इस कारण बहुत से धनिक लोग, ऐसे कार्यों में दिलचस्पी नहीं लेते थे क्योंकि वे चाहते थे कि उनका नाम हो और अधिकार भी उन्हें रहें। पर जमनालालजी को तो नाम का मोह बहुत ही कम था। वे तो काम के महत्त्व को आंकते थे। इसीलिए कार्य करने वालों के लिए अनेक प्रकार की सुविधाएँ कर देते थे तथा चुपचाप आर्थिक सहायता भी करते रहते थे। व्यक्तिगत रूपमें सेवाकार्य में लगे हुओं की सहायता वे किस प्रकार करते रहते थे इसे मैं लोकमान्य तिलक के शब्दों में ही देता हूँ, जो उन्होंने मुझ से कहे थे।

बचपन से ही कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य करने की इच्छा मुझमें रही है और ऐसे अवसर मैं ढूंढा ही करता था। इसके लिए दो-चार बार घर से भागा भी। उस समय देश में तिलक महाराज की आवाज गूंज रही थी। मैं उनके पास पहुँच गया। मैं सतरह वर्ष का था। मैंने उनपर अपनी इच्छा प्रकट करते हुए कहा था कि मैं आपके निकट रहकर कुछ देश का कार्य करना चाहता हूँ। उन्होंने मुझसे पढ़ाई, कार्य आदि के बारे में पूछा। मैंने कहा कि मेरी पढ़ाई मराठी चार कक्षा तक हुई है और व्यापार करता हूँ। सुनकर उन्होंने कहा "यदि तुम मेरे पास रहना चाहते हो तो रह सकते हो, किंतु १२ साल तो पढ़ाई करनी होगी और बाद में १२ साल काम करने के बाद ही तुम कुछ सेवा योग्य बन सकोगे। इसलिए मेरा खयाल है कि जब तुम व्यापार करते हो तो मेरे पास रहने की अपेक्षा जमनालालजी बजाज के पास रहना ज्यादा अच्छा है। वे भी व्यापारी हैं और अपनी कमाई को सेवा कार्य करनेवालों में वितरण करते रहते हैं और उनके सहायक बनते हैं। इससे सेवा-कार्य को बढ़ावा मिलता है। अभी तीन चार दिन पहले वे यहाँ (पूना) आए थे। यहाँ उनका बहुत सम्मान हुआ। उनके द्वारा आगे चलकर बड़े बड़े कार्य होंगे। तुम उन्हें ही अपना आदर्श बनाओ और उनकी तरह ही कार्य करो तो देश की अधिक सेवा कर सकोगे।"

तिलक महाराज का यह कथन उनके तथा मेरे सम्बंध में सत्य सिद्ध हुआ। मुझसे जो भी कुछ कार्य बन पड़ा या जैसी कुछ

सर्वभूत दया का व्यापक रूप

हाथोंपर कबूतरों का खेलना दयार्द्र हृदय का प्रतीक है...

रुचि उत्पन्न हुई उसका मुख्य श्रेय जमनालालजी बजाज को ही है।

वस्तुतः जमनालालजी सेवा के अवतार थे। उन्हें इतने से ही संतोष नहीं था कि उनके द्वारा कार्यकर्ताओं को आर्थिक मदद मिल जाती थी। वे स्वयं तन-मन से सेवा के क्षेत्र में उतर पड़े। विविध क्षेत्रों में उन्होंने बिना किसी प्रकार के फल की आशा से अपनी सेवाएं अर्पित कीं। उनकी सेवा सेवा के लिए ही थी, यश, नाम और स्वार्थ के लिए नहीं। उन्होंने इस श्लोक को अपना आदर्श मान लिया था और रातदिन इसी का ध्यान रखा करते थे। वह श्लोक यह है :

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं ना पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्ति नाशनम्॥

इस श्लोक को उन्होंने अच्छे अक्षरों में लिखाकर फ्रेम करवा लिया था। दुखितों का दुख दूर करने के लिए ही वे सेवा-क्षेत्र में कूदे थे। यही उनकी कामना थी, आशा थी।

वे राजनैतिक क्षेत्र में भी इसी कारण पड़े कि भारत के स्वतन्त्र हुए बिना गरीबों का दुख दूर नहीं हो सकेगा—सत्ताधारियों का शोषण-चक्र चलता रहेगा। खादी-प्रचार का कार्य भी उन्होंने गरीबों में, बेकारों में स्वावलम्बन और कर्मठता निर्माण करने की दृष्टि से हाथ में लिया। चर्खा-संघ के वे वर्षों तक अध्यक्ष रहे और सदैव सूत, खादी और मजदूरी पर सोचते रहे। जमनालालजी और जाजूजी के कारण चर्खा-संघ की काफी प्रगति हुई।

देश में शूद्रत्व और अस्पृश्यता की भावना भी गहरी जड़ जमा चुकी थी। धर्म के नाम पर और शास्त्रों के नाम पर बेचारे अस्पृश्य और अन्त्यज मानव-अधिकारों से भी वंचित थे। निरन्तर अपमान और अवहेलना के कारण दलितों और निर्धनों का स्वाभिमान नष्ट हो चुका था। उन्हें ऊंचा उठाने के लिए गांधीजीने आंदोलन प्रारंभ किया। जमनालालजी इसके उद्देश्य से द्रवित हो उठे और इस विषय में सक्रिय नेतृत्व किया। वे 'अस्पृश्यता निवारक संघ' के अध्यक्ष बने। उस समय कुओंपर पानी भरना भी शूद्रों के लिए पाप समझा जाता था। उन्होंने समाज का प्रबल विरोध होते हुए भी कुए तथा मंदिर खोलने के आंदोलन में सक्रिय भाग लिया। तुम्हें मालूम है यहा का लक्ष्मीनारायण मंदिर बच्छराजजी का ही बनवाया हुआ है। भारत का यह सबसे पहला मंदिर है जिसे हरिजनों या सबके लिए जमनालालजी ने खोला। अग्रवाल-समाज और तथा-कथित धर्म धारियों का सन् २९ में कितना विरोध हुआ होगा, उसकी कल्पना-मात्र की जा सकती है।

देश की स्वतन्त्रता के लिए गांधीजी का प्रयोग केवल भाषणों और अखबारोंतक ही सीमित नहीं रहा। उन्होंने सत्याग्रह के पथ पर जनता का आह्वान किया और उनके पीछे हजारों-लाखों युवक, प्रौढ़ और देश-भक्त अपना अपना काम छोड़कर, व्यापार छोड़कर जेलों में जाने लगे। हजारों घर लुट लिए गए, हजारों घर बेकार होगए, कई सरकारी दमन के शिकार हो गए। कांग्रेस के सामने सदा यह प्रश्न रहा कि बिगड़े घरों को कैसे बसाया जाय। जमना-

लालजी की शक्ति जहां तक पहुंचती थी, वे ऐसे लोगों की सार-सम्हाल बराबर रखते थे और चुपचाप सहायता पहुंचा दिया करते थे। वे स्वयं भी उन लोगों के यहां जाते, सान्त्वना देते और ढाढ़स बंधाते थे।

मातृ-जाति के विकास और सुधार का कार्य भी उन्होंने साहस पूर्वक किया। महिला-समाज की स्थिति आज के २५-३० वर्ष पूर्व कैसी थी, इस की कल्पना की जा सकती है। वे जिस समाज में पैदा हुए थे उस मारवाड़ी समाज की महिलाओं की दशा तो गई-बीती थी। शिक्षा का प्रसार तो बिलकुल ही नहीं था। पर्दा तो अभी भी जड़ जमाए सिर पर सवार है। समाज के ऐसे वातावरण में स्त्री-सुधार का प्रयत्न तलवार की धार पर चलने जैसा था।

उनका जीवन सेवामय था। सेवा का जो भी अवसर आया उसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया और जिम्मेदारी पूर्वक निभाया। राष्ट्रोपयोगी अनेक प्रवृत्तियों में उनकी सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी। उनके जीवन की घटनाएँ गिनाई जाएँ तो सम्भवतः उसके लिए एक स्वतन्त्र ग्रंथ ही तैयार हो जायगा।

पूनमचंदजी बांठिया से तो तुम परिचित ही हो। जिस समय वे उनके मुनीम थे उस समय किसानों से सम्बंध रखनेवाली यह घटना जमनालालजी के मातृ-हृदय का परिचय देती है।

सन् १९२८ में मंदी आई और ३१ में तो उसने अपना प्रभाव बढ़ा लिया था। किसानों की स्थिति सबसे खराब थी।

एक तो फसल ही कम थी, फिर भाव एकदम गिरते चले। जीवन-निर्वाह ही कठिन था, कर्ज चुकाना तो दूर की बात हो गई थी।

सेठ जमनालालजी बजाज का लेन-देन भी था। कर्ज वसूली की आशा न रहने पर उन्होंने अपने मुनीमों से जमीन-जायदाद लेकर आपस में फैसले करने को कह दिया। श्री पूनमचंदजी बांठिया को ही यह कार्य सौंपा गया था।

बांठियाजी जमनालालजी के हित की दृष्टि से अपना कर्त्तव्य समझकर ही यह कार्य कर रहे थे। इससे किसानों में असंतोष रहना या उनकी शिकायतें रहना स्वाभाविक था।

अपने पास शिकायतें पहुँचने पर सेठजीने बांठियाजी को बुलाकर कहा :

"तुम किसानों के साथ बहुत सख्ती से पेश आते हो। यह ठीक नहीं है। ऐसे काम से मुझे संतोष नहीं है।"

बांठियाजी को इस से काफी दुःख हुआ। वे रातभर विचार करते रहे। जिन के हित के लिए मैं कर रहा हूँ वे ही जब ठपका देते हैं तो काम नहीं करना ही अच्छा है। सब सोच समझकर बांठियाजी ने त्यागपत्र उनके पास भेज दिया।

अब सेठजी ने उन्हें बुलाया और कहा : "आश्चर्य की बात है कि इतने दिन मेरे पास रहकर भी तुम समझ नहीं पाए। तुम पर विश्वास है इसीलिए तो यह जिम्मेवारी सौंप रखी है। न्याय से

तुम्हारा करना ठीक होने पर भी उनकी स्थिति का खयाल रखना तुम्हारा काम है। एक मां के दो बच्चे होते हैं। दोनों का हक समान रहता है, लेकिन माँ दुर्बल बच्चे का अधिक खयाल रखती है। इसी प्रकार आज किसान दुर्बल हैं। उनका खयाल रखना ही चाहिए। इनके साथ मृदु व्यवहार करो।"

बाँठियाजी इससे काफी प्रभावित हुए और उत्साह से कार्य करने लगे।

ऐसी ही एक घटना सेवा-मूलक नीचे दे रहा हूँ जो स्व० भवानीदयालजी संन्यासी ने अपनी आत्म-कथा में दी है। बात गया के कांग्रेस अधिवेशन के समय की है। वे लिखते हैं :

"धर्मशाला से कांग्रेस-पंडाल तीन-चार मीलके फासले पर था, सवारी मिलने में बड़ी कठिनाई होती थी, और धूल-गर्द से भरी हुई उस ऊबड़-खाबड़ सड़कपर मनुष्योंकी भीड़में धक्के खाते पैदल चलना मेरे प्रवासी मित्रोंके लिए बड़ी कठोर क्रिया थी। एक दिन हम लोग वस्त्र परिधान कर धर्मशाला की तीसरी मंजिल से नीचे उतरे और सड़क पर खड़े होकर इक्केका इन्तजार करने लगे। घंटा-भर बीत गया, पर सवारी की सदौल न लगी। सामने एक मोटर खड़ी थी, उसीपर उनकी टकटकी बँध गई। एकने कहा, "क्या ही मजा आता यदि यह मोटर हमें पण्डाल तक पहुँचा आती।" दूसरे भाई व्यङ्ग-भावसे बोले, "यह क्या कोई टैक्सी है, जिसपर पैसे के प्रतापसे आप अधिकार जमा सकें? वास्तव में किसी महाभागकी

प्रतीक्षा में यह खड़ी है। उसपर दृष्टि गडाना मानो मनका मेवा खाना है।"

मुझे अचानक एक अजीब मजाक सूझा। मैं चहल कदमी करता हुआ मोटर के पास पहुँचा और ड्रायवर से पूछा कि यह मोटर किस के लिए खड़ी है? जवाब मिला कि सेठ जमनालाल बजाज के लिए। मैंने जमनालालजी का नाम सुना था, पर उनको देखा नहीं था। आज उनको देखने की ही नहीं, परखने की भी ठान ली। मैं ड्रायवर के पास मोटर में बैठ गया और अपने साथियों को बुलाकर पीछे की सीट पर बैठा लिया। ड्रायवर पर हुक्म चलाया ले चलो स्वराज्यपुरी। मेरी ज्यादती देखकर बेचारा सोफर तो सन्न रह गया और बडी नम्रता से बोला "हजूर! आप क्या कह रहे हैं? सेठजी नीचे आवेंगे तो मुझे गैरहाजिर पाकर क्या कहेंगे?"

"मैं तो साफ-साफ कह रहा हूँ कि मुझे स्वराज्यपुरी ले चलो," मैंने उसपर रोब जमाते हुए कहा, "क्या तुम ठेठ हिंदी भी नहीं समझते? मैं तो अब इस मोटर से उतरनेवाला नहीं। रही तुम्हारे सेठजी की बात, सो अगर तुमको डर लग रहा है तो जाकर उनको खबर दे आओ।" सोफर बिचारा एकदम सिटपिटा गया। ऐसी ज्यादती शायद कभी उसने देखी भी नहीं थी। क्या करे, क्या न करे? आखिर वह अपनी जिम्मेदारी से बरी होने के विचार से हिम्मत बाँधकर बोला, "हजूर भी साथ चलें तो इस गरीब पर बड़ी दया होगी।"

मैं सोफर के साथ सेठजी के कमरे में पहुँचा। वहाँ सामने बैठी हुई एक दिव्यमूर्तिपर मेरी दृष्टि ठहरी। कद लम्बा, रंग गेहुँआ और ललाट ऊँचा। आला दिमाग, दयार्द्र दिल और मीठी बोली। नेत्रों में प्रतिभा का प्रकाश और चेहरेपर चतुराई की चमक। उनके आसपास अनेक आदमी बैठे हुए थे और देश की सामयिक स्थितिपर चर्चा चल रही थी। हमारे प्रवेश करने पर जमनालालजी की निगाह मुझपर पड़ी। सोफर उनकी ओर मुखातिब होकर बोला, "यह साहब अपने तीन साथियों को लेकर मोटर में बैठ गए हैं और कहते हैं कि हमें पहले कांग्रेस-पंडाल तक पहुँचा आओ।" यह विचित्र बात सुनकर जमनालालजी के मुखपर कुछ तो विस्मय और कुछ कौतूहल की ईषत्-रेखा झलक आई और उन्होंने मुस्कराते हुए मुझसे पूछा, "क्या मैं आपका परिचय पा सकता हूँ ?" ज्यों ही मैंने अपना नाम बतलाया त्यों ही वे "बस बस और कुछ बतलाने की जरूरत नहीं।" कहते हुए उठ खड़े हुए और इस स्नेह से मिले मानों वर्षों का पारस्परिक परिचय हो। फिर सोफर से हँसते हुए बोले "भाई यह बहुत दूर से आये हैं—समुद्र पारके देश से। इसलिए हम सब के मेहमान हैं। पहले तुम इनको पहुँचा आओ। फिर आकर हमें ले चलना।" मैं शिष्टाचार के अनुसार उनका आभार मानकर बिदा हुआ। उनके सौजन्य और सौहार्द्र पर मुग्ध हुए बिना न रहा। जमनालालजी अब इस संसार में नहीं रहे, पर देश की आजादी के इतिहास में उनकी वीर गाथाएँ स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेंगी।" *

---

* 'प्रवासी की आत्मकथा' से

जब उन्हें प्रतीत हुआ कि सेवा के क्षेत्र को मनुष्य-समाज से भी अधिक व्यापक बनाना चाहिए तब उन्होंने गो-सेवा के कार्य को हाथ में लिया। गो-सेवा के सम्बंध में उनके दृष्टिकोण को पिछले किसी पत्र में स्पष्ट कर चुका हूँ।

जमनालालजी यद्यपि सम्पन्न थे और व्यावसायिक व्यस्तताएँ भी काफी रहती थीं तथापि वे सबकी याद रखते थे। हर स्थान पर वे दिखाई देते थे। वे मां के पैर दबाते हुए मिलते तो गाय का खरहरा करते भी देखे जा सकते थे। किसी के दाम्पत्य जीवन में मन-मुटाव हो गया हो, कोई बीमार पड़ गया हो या किसी की लड़की का सम्बंध करना हो तो सब की चिंता करते हुए उन्हें देखा जा सकता था। उनका एक एक क्षण सेवा करते करते ही व्यतीत हुआ था। उन्होंने न तो बीते समय की कभी चिंता की, न भविष्य के प्रति आकुल हुए। जो प्रसंग आया और अवसर आया उसका पूरा उपयोग किया। उनका जीवन शुद्ध था, स्पष्ट था और सात्त्विक था; मैत्री, प्रमोद, कारुण्य से ओत-प्रोत था। जैसा शानदार जीवन वे जीए वैसी ही उनकी मृत्यु भी हुई। अंतिम समय में वे बीमार तो हुए ही नहीं, थोड़ी ही देर में मूर्च्छित हुए और चल बसे।

जीवन के अन्तिम काल में वे गोपुरी में रहने लगे थे। वहां उन्होंने अपने लिए एक फूस की झोपड़ी बनवा ली थी। वे अब परिपूर्ण सेवा के लिए ही जीवित रहना चाहते थे और इसीलिए सब छोड़ छाड़ कर इस झोपड़ी में आकर रहने लगे थे। इस स्थिति में वे गीता के निष्काम-योगी थे, जैन-दर्शन के जीवन-मुक्त थे और

ईश्वर के कर्मठ तथा त्यागी भक्त थे। काका साहब कालेलकर के शब्दों में वे वैश्यर्षि थे।

इस पत्र के साथ जमनालालजी सम्बंधी चर्चा को समाप्त करता हूँ। इस समय तो नहीं, लेकिन जब सफल लेखक उनके जीवन पर विविध दृष्टिकोणों से लिखेंगे तब ही उनका सच्चा राष्ट्रीय व्यक्तित्त्व लोगों की समझ में आएगा। मेरा विश्वास है कि उनके समान वे ही थे। आज उनके स्थान की पूर्ति करने वाला वैश्य समाज में कोई नहीं है, और निकट भविष्य में इसकी कोई आशा भी नहीं है।

आशा है इन पत्रों से तुमको व्यावहारिक प्रेरणा और मार्ग-दर्शन हो सकेगा। मैंने उनके निकट जो कुछ पाया था और ग्रहण कर सका था उसी को अपने शब्दों में तुम्हारे और तुम जैसे तरुणों के उपयोग के लिए यहां लिख गया हूँ। जहां तक हो सका है मैंने उनके व्यक्तित्व को प्रस्तुत करने में सावधानी से काम लिया है और वही मेरी उनके प्रति वास्तविक श्रद्धाञ्जलि है।

इन पत्रों में जहां कहीं तुम्हें अपूर्णता दिखाई दे उसका कारण मेरी उन्हें समझाने और लिखने की अपूर्णता ही समझा जाय; जमनालालजी तो अपने आपमें पूर्ण ही थे।

उनके सम्बन्ध में....

"...विचार-संयम उनकी एक बड़ी साधना थी। वे सदा ही अपने को तरकर विचारों से बचाने की कोशिश में रहते थे। उनके अवसान से वसुन्धरा का एक रत्न कम हो गया है।...."

—महात्मा गांधी

"...वे तो मरते दमतक सेवा कर के और सेवा का ही ध्यान करते हुए चले गए।..."

—महादेव ह. देसाई

"...कोई अच्छा काम नहीं था जिसमें उन्होंने सहायता न की हो। बिहार उनका विशेष ऋणी है। भीषण भूकम्प के दिनों में महीनों यहाँ रहकर उन्होंने उसकी सेवा की। व्यक्तिशः मेरे लिए तो वे भाई के समान थे और मैं उनसे उऋण नहीं हो सकता।"

—डा० राजेन्द्रप्रसाद

"तमारा जेटलो मेहमानगिरि नो बोजो हिंदुस्तान मां कोई उठावी शके एम मानतो नथी। कोई करवा तैयार थाय तेमा आखु कुटुम्ब तमारी माफक अनुकूल थाय एवुं तो न ज बने।"

—सरदार वल्लभभाई पटेल
(ता० १०-२-४२ के पत्र से)

"...उनका हृदय और उनके घरके दरवाजे राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं के स्वागत के लिए हमेशा खुले रहते थे। उन्होंने केवल पैसा कमाना ही नहीं सीखा था, परन्तु वे उसे व्यय करना भी जानते थे।—आज वे हमारे बीच में नहीं हैं परन्तु उनकी सेवाओं के फल हमेशा हरे रहेंगे और उनकी स्मृति कभी धुंधली नहीं होगी।"

—मौलाना अबुल कलाम आजाद

"सेठ जमनालालजी जिसे पात्र समझते थे उसे बिना किसी जाति, धर्म, आयु, और स्थान-भेद के अपनाते थे। ऐसा व्यक्ति, जो अपने जीवन को अत्यन्त पवित्रता के साथ व्यतीत करता था, हमारे बीच से उठ गया और इस असार संसार में अपनी सुकृति और अपने आदर्श की छाप छोड़ गया।"

—चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य